

## विषय परिचय

स्पर्श अनुयोगद्वारसे वर्गणाखण्ड प्रारम्भ होता है। इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अधिकारोंके साथ बन्धन अनुयोगद्वारके बन्धन और बन्धनीय इन दो अधिकारोंका विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। फिर भी इसमें बन्धनीयका आलम्बन लेकर वर्गणाओंका सविस्तर वर्णन किया है, इसलिए इसे वर्गणाखण्ड इस नामसे सम्बोधित करते हैं।

### १. स्पर्श अनुयोगद्वार

स्पर्श छूनेको कहते हैं। यह नामस्पर्श और स्थापनास्पर्श आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है, इसलिए प्रकृतमें कौनसा स्पर्श गृहीत है यह बतलानेके लिए यहाँ स्पर्श अनुयोगद्वारका आलम्बन लेकर स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान आदि १६ अधिकारोंके द्वारा स्पर्शका विधान किया गया है।

१. स्पर्शनिक्षेप -- स्पर्शनिक्षेपके नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, सर्वस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श ये तेरह भेद हैं।

२. स्पर्शनयविभाषणता -- अभी जो स्पर्शनिक्षेपके तेरह भेद बतलाये हैं उनमेंसे कौन स्पर्श किस नयका विषय है यह बतलानेके लिए यह अधिकार आया है। नयके मुख्य भेद पाँच हैं -- नैगमनय, व्यवहारनय, संग्रहनय, ऋजुसूत्र नय और शब्दनय। इनमेंसे नैगमनय नामस्पर्श आदि सब स्पर्शोंको स्वीकार करता है। व्यवहार और संग्रहनय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शको स्वीकार नहीं करते, शेष ग्यारहको स्वीकार करते हैं। ये दोनों नय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शोंको स्वीकार नहीं करते, इसके कारणका निर्देश करते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि इन नयोंकी दृष्टिमें एक तो बन्धस्पर्शका कर्मस्पर्शमें अंतर्भाव हो जाता है, इसलिए इसे अलगसे स्वीकार नहीं करते। दूसरे, बन्धस्पर्श बनता ही नहीं है, क्योंकि बन्ध और स्पर्श इनमें कोई भेद नहीं है, इसलिए भी इसे स्वीकार नहीं करते। तथा भव्यस्पर्श वर्तमान समयमें उपलब्ध नहीं होता, इसलिए बन्धस्पर्शके समान भव्यस्पर्श भी इनका विषय नहीं है। ऋजुसूत्र नय स्थापनास्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्य स्पर्श इन पाँचको स्वीकार नहीं करता, शेष नौ स्पर्शोंको स्वीकार करता है। ऋजुसूत्रनय एकक्षेत्रस्पर्शको क्यों विषय नहीं करता, इसके कारणका निर्देश

करते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि नयकी दृष्टिमें एकक्षेत्र नहीं बनता, क्योंकि एकक्षेत्र पदका 'एक जो क्षेत्र वह एकक्षेत्र' ऐसा अर्थ करनेपर आकाशकी दृष्टिसे एक आकाशप्रदेश उपलब्ध होता है। परन्तु वह ऋजुसूत्रकी दृष्टिमें एकक्षेत्रस्पर्श नहीं बन सकता, क्योंकि स्पर्श दोका होता है, और यह नय दोको स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार इन नयकी दृष्टिसे अनन्तरक्षेत्रस्पर्श भी नहीं बनता, क्योंकि यह नय आधार-आधेयभावको स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार इस नयकी दृष्टिसे स्थापनास्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शका निषेध जानना चाहिए। यहाँ यद्यपि सूत्रगाथामें ऋजुसूत्रके विषयरूपसे स्थापनास्पर्शका निषेध नहीं किया है, पर स्थापना ऋजुसूत्रका विषय नहीं है, इसलिए उसका निषेध स्वयं ही सिद्ध है। शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्शको स्वीकार करता है। इसका कारण बतलाते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि भावस्पर्श शब्दनयका विषय है यह तो स्पष्ट ही है। किन्तु नामके विना भावस्पर्शका कथन नहीं किया जा सकता है, इसलिए नामस्पर्श भी शब्दनयका विषय है। और द्रव्यकी विवक्षा किये बिना भी कर्कश आदि गुणोंका अन्य गुणोंके साथ संबंध देखा जाता है, इसलिए स्पर्शस्पर्श भी शब्दनयका विषय है।

आगे स्पर्शनामविधान आदि चौदह अनुयोगद्वारोंका मूलमें कथन न कर स्पर्शनिक्षेप आदि तेरह निक्षेपोंका ही स्वरूपनिर्देश किया है जो इस प्रकार है --

नामस्पर्श -- एक जीव, एक अजीव, नाना जीव, नाना अजीव, एक जीव और एक अजीव, एक जीव और नाना अजीव, नाना जीव और एक अजीव तथा नाना जीव और नाना अजीव, इनमेंसे किसीका भी 'स्पर्श' ऐसा नाम रखना नामस्पर्श है।

स्थापनास्पर्श -- काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्म आदि विविध प्रकारके कर्म तथा अक्ष आदि विविध प्रकारके कर्म तथा अक्ष और वराटक आदि जो भी संकल्पद्वारा स्पर्शनरूपसे स्थापित किये जाते हैं वह सब स्थापनास्पर्श है।

द्रव्यस्पर्श -- एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ जो सम्बन्ध होता है वह सब द्रव्यस्पर्श है। सब मिलाकर यह द्रव्यस्पर्श ६३ प्रकारका है, क्योंकि छहों द्रव्योंके एकसंयोगी ६, द्विसंयोगी १५, त्रिसंयोगी २०, चतुःसंयोगी १५, पंचसंयोगी ६ और छहसंयोगी १, कुल ६३ संयोगी भंग होते हैं।

एकक्षेत्रस्पर्श -- जो द्रव्य अपने एक अवयवद्वारा अन्य द्रव्यका स्पर्श करता है उसे एकक्षेत्रस्पर्श कहते हैं। जैसे एक आकाशप्रदेशमें अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु संयुक्त होकर या बन्धको प्राप्त होकर निवास करते हैं।

अनन्तरक्षेत्रस्पर्श -- विवक्षित क्षेत्रसे लगा हुआ क्षेत्र अनन्तर क्षेत्र कहलाता है। कोई द्रव्य विवक्षित क्षेत्रमें स्थित है और वह अन्य द्रव्य उससे लगे हुए क्षेत्रमें स्थित है। ऐसी अवस्थामें इन दो द्रव्योंका जो स्पर्श होता है वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श कहलाता है। इसी प्रकार जो द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध होते हैं उनका दो आकाशप्रदेशों आदिमें निरन्तर निवास करनेपर उन स्कन्धोंमें रहनेवाले परमाणुओंका भी अनन्तरक्षेत्रस्पर्श घटित कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जहाँ क्षेत्रका व्यवधान न होकर दो द्रव्योंका स्पर्श होता है वहाँ यह स्पर्श घटित होता है।

देशस्पर्श -- एक द्रव्यके एकदेशका अन्य द्रव्यके एकदेशके साथ जो स्पर्श होता है उसे देशस्पर्श कहते हैं। यह देशस्पर्श अवयवोंका ही होता है, परमाणुरूप पुद्गलोंका नहीं, क्योंकि, परमाणुओंके अवयव नहीं उपलब्ध होते; यदि ऐसा कोई कहे तो उसका यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि परमाणुका विभाग नहीं हो सकता इस अपेक्षा उसे अप्रदेशी कहा है। वैसे तो परमाणु भी सावयव होता है, अन्यथा परमाणुओंके संयोगसे स्कन्धकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए दो या दोसे अधिक परमाणुओंका भी एकदेशस्पर्श होता है।

त्वक्स्पर्श -- वृक्षकी छालको त्वक् और पपड़ीको नोत्वक् कहते हैं। तथा सूरण, अदरख, प्याज और हल्दी आदिकी बाह्य पपड़ीको भी नोत्वक् कहते हैं। द्रव्यका त्वचा और नोत्वचाके साथ जो स्पर्श होता है उसे त्वक्स्पर्श कहते हैं। त्वचा और नोत्वचा ये स्कन्धके ही अवयव हैं, इसलिए पृथक् द्रव्य न होनेसे इसका द्रव्यस्पर्शमें अन्तर्भाव नहीं किया है। यहाँ त्वचा और नोत्वचाके एक और नाना भेद करके आठ भंग उत्पन्न करना चाहिए। ये भेद वीरसेन स्वामीने लिखे हैं, इसलिए इनका अलगसे विवेचन नहीं किया है। यहाँ त्वचा और नोत्वचाका द्रव्यके साथ अथवा परस्पर स्पर्श विवक्षित है, इतना विशेष जानना चाहिए।

सर्वस्पर्श -- स्पर्शगुणके आठ भेद हैं। उनका स्पर्शन इंद्रियके साथ जो स्पर्श होता है उसे स्पर्शनस्पर्श कहते हैं। यहाँपर कर्कश आदि गुणोंके परस्पर स्पर्शकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अन्य रूप आदि गुणोंका भी स्पर्श लेना पड़ेगा। किन्तु सूत्रमें स्पर्शस्पर्शसे कर्कश

आदि आठ प्रकारके स्पर्शका ही ग्रहण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ कर्कश आदिका परस्पर स्पर्श विवक्षित नहीं है।

कर्मस्पर्श -- ज्ञानावरण आदिके भेदसे कर्म आठ प्रकारके हैं। इनका तथा इनके विस्त्रसोपचयोंका जीवके साथ जो सम्बन्ध है वह सब कर्मस्पर्श कहलाता है। ज्ञानावरणादि कुल कर्म आठ हैं। इनमेंसे प्रत्येक कर्मका अपने साथ व अन्य कर्मोंके साथ सम्बन्ध है, अतः कुल चौसठ भंग होते हैं। उनमेंसे पुनरुक्त २८ भंगोंको कम कर देनेपर ३६ अपुनरुक्त भंग शेष रहते हैं।

बन्धस्पर्श -- औदारिक शरीरका औदारिक शरीरके साथ, तथा इसी प्रकार अन्य शरीरोंका अपने अपने साथ जो स्पर्श होता है उसे बन्धस्पर्श कहते हैं। कर्मका कर्म और नोकर्मका नोकर्मके साथ तथा नोकर्मका नोकर्मके साथ तथा नोकर्मका नोकर्मके और कर्मके साथ स्पर्श होता है, यह दिखलानेके लिए कर्मस्पर्श और बन्धस्पर्शको द्रव्यस्पर्शसे अलग कहा है। इस बन्धस्पर्शके कुल २३ भंग हैं। उनमेंसे ९ पुनरुक्त भंग अलग कर देनेपर १४ अपुनरुक्त भंग शेष रहते हैं। वीरसेन स्वामीने इनका अलगसे निर्देश किया ही है।

भव्यस्पर्श -- जो आगे स्पर्श करनेयोग्य होंगे, परन्तु वर्तमानमें स्पर्श नहीं करते, वह भव्यस्पर्श कहलाता है। मूल सूत्रमें इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये हैं -- विष, कूट, यंत्र, पिंजरा, कन्दक और जाल आदि तथा इनको करनेवाले और इन्हें इच्छित स्थानमें रखनेवाले। यद्यपि इनका जाल आदि तथा इनको करनेवाले तथा इन्हें इच्छित स्थानमें रखनेवाले। यद्यपि इनका वर्तमानमें अन्य पदार्थोंसे स्पर्श नहीं हो रहा है, पर आगे होगा, इसलिए इसकी भव्यस्पर्श संज्ञा है।

भावस्पर्श -- स्पर्शविषयक शास्त्रका जानकार और वर्तमानमें उसके उपयोगवाला जीव भावस्पर्श कहलाता है। जो स्पर्शविषयक शास्त्रका ज्ञाता नहीं है, परन्तु स्पर्शरूप उपयोगसे उपयुक्त है, उसकी भी भावस्पर्श संज्ञा है। अथवा जीव और पुद्गल आदि द्रव्योंके जो ज्ञान आदि भाव होते हैं उनके सम्बन्धको भी भावस्पर्श कहते हैं।

इस प्रकार ये कुल १३ स्पर्श हैं। इनमेंसे इस शास्त्रमें कर्मस्पर्शसे ही प्रयोजन है, क्योंकि यह शास्त्र अध्यात्मविद्याका विवेचन करता है, इसलिए यहाँ अन्य स्पर्श नहीं लिये गये हैं और न स्पर्शनामविधान आदि अन्य अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर उनका विचार ही किया है। उसमें

भी कर्मका विवेचन वेदना आदि अनुयोगद्वारोंमें विस्तारके साथ किया है, इसलिए यहाँ उसका भी कर्मस्पर्शनयविभाषणता आदि अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर लेकर विचार नहीं किया है।

२) कर्म अनुयोगद्वार -- कर्मका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है क्रिया। निक्षेपव्यवस्थाके अनुसार इसके नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ये दस भेद हैं। साधारणतः कर्मका कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता आदि सोलह अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर विचार किया जाता है। यहाँ सर्वप्रथम कर्मनिक्षेपके दस भेद गिनाकर किस कर्मको कौन नय स्वीकार करता है, यह बतलाया है। इसके बाद प्रत्येक निक्षेपके स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है। नयके पाँच भेद पहले लिख आये हैं। उनमेंसे नैगमनय, व्यवहारनय और संग्रहनय सब कर्मोंको विषय करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापनाकर्मके सिवा शेष नौ कर्मोंको स्वीकार करता है तथा शब्दनय नामकर्म और भावकर्मको ही स्वीकार करता है। कारण स्पष्ट है। नामकर्म और स्थापनाकर्म सुगम हैं। जीव या अजीवका 'कर्म' ऐसा नाम रखना नामकर्म है। काष्ठकर्म आदिमें तदाकार या अतदाकार कर्मकी स्थापना करना स्थापनाकर्म है।

द्रव्यकर्म -- जिस द्रव्यकी जो सद्भाव क्रिया है। उदाहरणार्थ ज्ञान-दर्शन रूपसे परिणमन करना जीव द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। वर्ण, गन्ध आदि रूपसे परिणमन करना पुद्गल द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। जीवों और पुद्गलोंके गमनागमनमें हेतुरूपसे परिणमन करना धर्मद्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। जीवों और पुद्गलोंके स्थित होनेके हेतुरूपसे परिणमन करना अधर्म द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। सब द्रव्योंके परिणमनमें हेतु होना काल द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। अन्य द्रव्योंके अवकाशदानरूपसे परिणमन करना आकाश द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। इस प्रकार विवक्षित क्रियारूपसे द्रव्योंके परिणमनका जो स्वभाव है वह सब द्रव्यकर्म है।

प्रयोगकर्म -- मनःप्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोगकर्मके भेदसे प्रयोगकर्म तीन प्रकारका है। मन, वचन और काय आलम्बन हैं। इनके निमित्तसे जो जीवका परिस्पन्द होता है उसे प्रयोगकर्म कहते हैं। मनःप्रयोगकर्म और वचनप्रयोगकर्ममेंसे प्रत्येक सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे चार प्रकारका है। कायप्रयोगकर्म औदारिकशरीर कायप्रयोगकर्म आदिके भेदसे सात प्रकारका है। यह तीनों प्रकारका प्रयोगकर्म यथासम्भव संसारी जीवोंके और सयोगी जिनके होता है।

समवदानकर्म -- जीव आठ प्रकारके, सात प्रकारके या छह प्रकारके कर्मोंको ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है, इसलिए यह सब समवदानकर्म है। समवदानका अर्थ विभाग करना है। जीव मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके निमित्तसे कर्मोंको ज्ञानावरणादिरूपसे आठ, सात या छह भेद करके ग्रहण करता है, इसलिए इसे समवदानकर्म कहते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

अधःकर्म -- जीव अंगछेदन, परिताप और आरम्भ आदि नाना कार्य करता है। उसमें भी ये कार्य औदारिकशरीरके निमित्तसे होते हैं, इसलिए उसकी अधःकर्म संज्ञा है। यद्यपि नारकियोंके वैक्रियिकशरीरके द्वारा भी ये कार्य देखे जाते हैं, पर वहाँ इनका फल जीववध नहीं दिखायी देता। इसीलिए औदारिकशरीरकी ही यह संज्ञा है।

ईर्यापथकर्म -- ईर्या अर्थात् केवल योगके निमित्तसे जो कर्म होता है वह ईर्यापथकर्म कहलाता है। यह ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि योग इन्हीं गुणस्थानोंमें उपलब्ध होता है। यहाँ वीरसेन स्वामीने तीन पुरानी गाथाओंको उद्धृत कर ईर्यापथकर्मका अति सुन्दर विवेचन करते हुए लिखा है कि ईर्यापथकर्म अल्प है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म अल्प अर्थात् एक समय तक ही रुकते हैं। वह बादर है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्मपुद्गल बहुत होते हैं। यहाँ यह कथन वेदनीय कर्मकी मुख्यतासे किया है। वह मृदु है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म कर्कश आदि गुणोंसे रहित होते हैं। वह रूक्ष है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म रूक्ष गुणयुक्त होते हैं। वह शुक्ल है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म अन्यवर्णसे रहित एकमात्र शुक्लरूपको लिये हुए होते हैं। वह मन्द है क्योंकि वह सातारूप परिणामको लिये हुए होता है। वह महाव्ययवाला है, क्योंकि यहाँ असंख्यातगुणी निर्जरा देखी जाती है। वह सातारूप है, क्योंकि वहाँ भूख-प्यास आदिकी बाधा नहीं देखी जाती। वह गृहीत होकर भी अगृहीत है, बद्ध होकर भी अबद्ध है, स्पृष्ट होकर भी अस्पृष्ट है, उदित होकर भी अनुदित है, वेदित होकर भी अवेदित है, निर्जरावाला होकर भी एक साथ निर्जरावाला नहीं है और उदीरित होकर भी अनुदीरित है। कारणका निर्देश वीरसेन स्वामीने किया ही है।

तपःकर्म -- रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए जो इच्छाओंका निरोध किया जाता है वह तप कहलाता है। इसके बारह भेद हैं -- छह आभ्यन्तर तप और छह बाह्य तप। बाह्य तपोंमें पहला अनशन है। इसे अनेषण भी कहते हैं। विवक्षित दिन या कई दिन तक किसी प्रकारका आहार न

लेना अनशन तप है। स्वाभाविक आहारसे कम आहार लेना अवमौदर्य तप है। सामान्यतः पुरुषका आहार ३२ ग्रासका और महिलाका आहार २८ ग्रासका माना गया है। एक ग्रास हजार चावलका होता है और इसी अनुपातसे यहाँ पुरुष और महिलाके ग्रासोंका विधान किया गया है। वैसे जो जिसका स्वाभाविक आहार है वह उसका आहार माना गया है और इससे न्यून आहार अवमौदर्य तप कहलाता है। भोजन, भाजन और घर आदिको वृत्ति कहते हैं और इसका परिसंख्यान करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। और, गुड़, घी, नमक और दही आदि रस हैं। इनका परित्याग करना रसपरित्याग तप है। वृक्षके मूलमें निवास, आतापन, योग और पर्यकासन आदिके द्वारा जीवका दमन करना कायक्लेश तप है। तथा विविक्त अर्थात् एकान्तमें उठना, बैठना व शयन करना विविक्तशय्यासन तप है। यह छह प्रकारका बाह्य तप है। यह बाह्य अर्थात् मार्गविमुख जनोंके भी ध्यानमें आता है, इसलिए इसकी बाह्य तप संज्ञा है।

कृत अपराधके निराकरणके लिए जो अनुष्ठान किया जाता है उसकी प्रायश्चित्त संज्ञा है। यहाँपर प्रायः शब्दका अर्थ लोक है और चित्तका अर्थ मन है। अतः चित्तका संशोधन करना ही प्रायश्चित्त है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। वह प्रायश्चित्त आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धानके भेदसे दस प्रकारका है। इनमेंसे आलोचना गुरुकी साक्षीपूर्वक और प्रतिक्रमण गुरुके विना अल्प अपराध होनेपर किया जाता है। तदुभय स्पष्ट ही है। गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदिसे अलग करना विवेक है। तात्पर्य यह है कि जिस द्रव्य आदिके संयोगसे दोषोत्पत्तिकी सम्भावना हो उससे जुदा कर देना प्रायश्चित्त है। ध्यानपूर्वक नियत समयके लिए कायसे मोह छोड़कर स्थित रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। उपवास, आचाम्ल आदि करना तप प्रायश्चित्त है। विवक्षित समय तककी दीक्षाका छेद करना प्रायश्चित्त है। पूरी दीक्षाका छेद करना मूल प्रायश्चित्त है। परिहार दो प्रकारका है -- अनवस्थाप्य और पारंचिक। अनवस्थाप्यका जघन्य काल छह मास और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। वह कायभूमिसे दूर रहकर विहार करता है, उसकी कोई प्रतिवन्दना नहीं करता, वह गुरुके साथ ही सम्भाषण कर सकता है। पारंचिक तपमें इतनी विशेषता है कि इसे जहाँ साधर्मि बन्धु नहीं होते ऐसे क्षेत्रमें आहारादिकी विधि सम्पन्न करते हुए निवास करना पड़ता है। यह दोनों प्रकारका प्रायश्चित्त राज्यविरुद्ध कार्य करनेपर दिया जाता है। मिथ्यात्वको प्राप्त होनेपर पुनः सद्धर्मको स्वीकार करना श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त है।

ज्ञानादिके भेदसे विनय पाँच प्रकारका है। आचार्य आदिकी आपत्तिको दूर करना वैयावृत्त्य तप है। जिनागमके रहस्यका अध्ययन करना स्वाध्याय तप है। एकाग्र होकर अन्य चिन्ताका निरोध करना ध्यान तप है। कषायोंके साथ देहका त्याग करना कायोत्सर्ग तप है। यह छह प्रकारका अभ्यन्तर तप है।

यहाँ ध्यानका विस्तारसे वर्णन करते हुए ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानका फल इन चारोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। ध्यानके चार भेदोंमेंसे धर्म्यध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक ओर शुक्लध्यान उपशान्तमोह गुणस्थानसे होता है, यह बतलाया है। शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम ध्यान उपशान्तकषाय गुणस्थानमें मुख्य रूपसे होता है और कदाचित् एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान भी होता है। क्षीणमोह गुणस्थानमें एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान मुख्य रूपसे होता है और प्रारम्भमें पृथक्त्ववितर्कअवीचार ध्यान भी होता है।

क्रियाकर्म -- इसमें आत्माधीन होकर गुरु, जिन और जिनालयकी तीन बार प्रदक्षिणा की जाती है। अथवा तीनों सन्ध्याकालोंमें नमस्कारपूर्वक प्रदक्षिणा की जाती है, तीन बार भूमिपर बैठकर नमस्कार किया जाता है। विधि यह है कि शुद्ध मनसे और पादप्रक्षालन कर जिन भगवानके आगे बैठना प्रथम नमस्कार है। फिर उठकर और प्रार्थना करके बैठना दूसरा नमस्कार है। पुनः उठकर और सामायिक दण्डक द्वारा आत्मशुद्धि करके कषाय और शरीरका उत्सर्ग करके जिन देवके अनन्त गुणोंका चिन्तवन करते हुए चौबीस तीर्थकरोंकी वन्दना करके तथा जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके बैठना तीसरा नमस्कार है। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें तीन अवनति होती हैं। सब क्रियाकर्म चार नमस्कारोंको लिये हुए होता है। यथा सामायिकके आरम्भमें और अन्तमें जिनदेवको नमस्कार करना तथा 'त्थोस्सामि' दंडकके आदिमें और अन्तमें नमस्कार करना। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें चार नमस्कार होते हैं। तथा प्रत्येक नमस्कारके प्रारम्भमें मन, वचन और कायकी शुद्धिके ज्ञापन करनेके लिए तीन आवर्त किये जाते हैं। सब आवर्त बारह होते हैं। यह क्रियाकर्म है। मूलाचार और प्राचीन अन्य साहित्यमें भी उपासनाकी यही विधि उपलब्ध होती है। यह साधु और श्रावक दोनोंके द्वारा अवश्यकरणीय है।

भावकर्म -- जिसे कर्मप्राभृतका ज्ञान है और उसका उपयोग है उसे भावकर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्मके दस भेद हैं। उनमेंसे प्रकृतमें समवदानकर्मका प्रकरण है, क्योंकि कर्म अनुयोगद्वारमें इसीका विवेचन किया गया है।

इसके आगे वीरसेन स्वामीने प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म इन छह कर्मोंका सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अधिकारोंके द्वारा ओघ ओर आदेशसे विवेचन किया है। यथा -- ओघसे छहों कर्म हैं। आदेशसे नारकियों और देवोंमें प्रयोगकर्म, समवदानकर्म और क्रियाकर्म हैं। शेष नहीं हैं। तिर्यचोंमें ईर्यापथकर्म और तपःकर्म नहीं हैं, शेष चार हैं। मनुष्योंमें छहों कर्म हैं। कारण स्पष्ट है। इसी प्रकार शेष मार्गणाओंमें घटित कर लेना चाहिए। तात्पर्य इतना है कि प्रयोगकर्म तेरहवें गुणस्थानतक सब जीवोंके उपलब्ध होता है, क्योंकि यथासम्भव मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति अयोगी और सिद्ध जीवोंको छोड़कर सर्वत्र पायी जाती है। समवदानकर्म सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानतक सब जीवोंके होता है, क्योंकि यहाँ तक किसीके आठ, किसीके सात और किसीके छह प्रकारके कर्मोंका निरन्तर बन्ध होता रहता है। अधःकर्म केवल औदारिक शरीरके आलम्बनसे होता है, इसलिए इसका सद्भाव मनुष्य और तिर्यचोंके ही होता है। ईर्यापथकर्म, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवलीके होता है, इसलिए यह मनुष्योंके बतलाया गया है। क्रियाकर्म अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे होता है, अतः इसका सद्भाव चारों गतियोंमें कहा गया है। तपःकर्म प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे होता है, अतः इसके स्वामी मनुष्य ही हैं। यह चार गतिका विवेचन है। अन्य मार्गणाओंमें इस विधिको जानकर घटित कर लेना चाहिए। तथा इसी विधिके अनुसार ओघ और आदेशसे इनकी संख्या आदि भी जान लेनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि संख्या आदि प्ररूपणाओंका विचार करते समय इन छह कर्मोंकी द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थताकी अपेक्षा कथन किया है। इसलिए यहाँ इनकी द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थताका ज्ञान करा देना आवश्यक है।

प्रयोगकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्ममें उस उस कर्मवाले जीवोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन जीवोंके प्रदेशोंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। समवदानकर्म और ईर्यापथकर्ममें उस उस कर्मवाले जीवोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन जीवोंसे सम्बन्धको प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। अधःकर्ममें औदारिक शरीरके नोकर्मस्कन्धोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और औदारिक

शरीरके उन नोकर्मस्कन्धोंके परमाणुओंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। इसलिए संख्या आदिका विचार कर इन कर्मोंकी द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थताकी संख्या आदिकी समझकर करना चाहिए।

## १) प्रकृति अनुयोगद्वार

प्रकृति, शील और स्वभाव इनका एक ही अर्थ है। उसका जिस अनुयोगद्वारमें विवेचन हो उसका नाम प्रकृति अनुयोगद्वार है। इसका विचार प्रकृतिनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर किया जाता है। उसमें पहले प्रकृतिनिक्षेपका विचार करते हुए नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति ये चार भेद किये गये हैं और इसके बाद कौन नय किस प्रकृतिको स्वीकार करता है, यह बतलाते हुए कहा है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह नय सब प्रकृतियोंको स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र नय स्थापना प्रकृतिको स्वीकार नहीं करता। शब्दनय केवल नाम और भाव प्रकृतिको स्वीकार करता है। कारण स्पष्ट है। आगे नामप्रकृति आदिका विस्तारसे विचार किया गया है। यथा --

नामप्रकृति -- जीव और अजीवके एकवचन और बहुवचन तथा एकसंयोगी और द्विसंयोगी जो आठ भेद हैं उनमेंसे जिस किसीका 'प्रकृति' ऐसा नाम रखना वह नामप्रकृति है।

स्थापनाप्रकृति -- काष्ठकर्म आदिमें व अक्ष और वराटक आदिमें बुद्धिसे 'यह प्रकृति है' ऐसी स्थापना करना वह नामप्रकृति है।

द्रव्यप्रकृति -- द्रव्यका अर्थ भव्य है। इसके दो भेद हैं -- आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति। आगमद्रव्यप्रकृतिमें प्रकृतिविषयक शास्त्रका जानकार उपयोगरहित जीव लिया गया है। अतः आगमके अधिकारीभेदसे स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम ये नौ भेद करके उनकी वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति और धर्मकथा द्वारा ज्ञानसम्पादनकी बात कही है। इस विधिसे प्रकृतिविषयक ज्ञान सम्पादन कर जो उसके उपयोगसे रहित है वह आगमप्रकृतिद्रव्य कहलाता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। द्रव्यप्रकृतिका दूसरा भेद नोआगमद्रव्यप्रकृति है। इसके दो भेद हैं - कर्मद्रव्यप्रकृति और

नोकर्मद्रव्यप्रकृति। यहाँ सर्वप्रथम नोकर्मद्रव्यप्रकृतिके अनेक भेदोंका संकेत करके कुछ उदाहरणोंद्वारा नोकर्मकी प्रकृति बतलायी गयी है। यथा -- घट, सकोरा आदिकी प्रकृति मिट्टी है, धानकी प्रकृति जौ है और तर्पणकी प्रकृति गोहूँ है। तात्पर्य यह है कि किसी कार्यके होनेमें जो पदार्थ निमित्त पड़ते हैं उन्हें नोकर्म कहते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी दृष्टिसे प्रत्येक कर्मके नोकर्मका विवेचन किया है। यथा -- वस्त्र ज्ञानावरणका नोकर्म है। प्रतीहार दर्शनावरणका नोकर्म है। तलवार वेदनीयका नोकर्म है। मद्य मोहनीयका नोकर्म है। आहार आयुर्कर्मका नोकर्म है। देह नामकर्मका नोकर्म है। उच्च-नीच शरीर गोत्रकर्मका नोकर्म है। भण्डारी गोत्रकर्मका नोकर्म है। तात्पर्य यह है कि वस्त्रादि द्रव्यके सामने आ जानेपर ज्ञानावरणका उदयविशेष होता है, जिससे वस्तुका ज्ञान नहीं होता इसलिए इसकी नोकर्म संज्ञा है। इसी प्रकार अन्य कर्मके नोकर्मको घटित कर लेना चाहिए। वहाँ ये मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा नोकर्म कहे गये हैं। उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा नोकर्मका विचार करते हुए इष्ट अन्न-पान आदिको सातावेदनीयका और अनिष्ट अन्न-पान आदिको असातावेदनीयका नोकर्म कहा गया है। इसका भी यही तात्पर्य है कि इष्ट अन्न-पान आदिका संयोग होनेपर सातावेदनीयकी उदय-उदीरणा होती है और अनिष्ट अन्न-पान आदिका संयोग होनेपर असाता वेदनीयकी उदय-उदीरणा होती है। इन बाह्य पदार्थोंके संयोग-वियोग यथासम्भव उस कर्मके उदय-उदीरणामें निमित्त होते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यहाँ प्रकृति अनुयोगद्वारमें मुख्य रूपसे नोकर्मकी क्या प्रकृति है, इसका विचार हो रहा है। इसलिए किस कार्यका क्या नोकर्म है, यह न बतलाकर जो पदार्थ नोकर्म हो सकते हैं उनकी प्रकृतिका निर्देश किया गया है।

कर्मप्रकृतिके ज्ञानावरण आदि आठ भेद हैं। इनका स्वरूप इनके नामसे ही परिज्ञात हैं। ज्ञानावरण -- ज्ञान एक होकर भी बन्धविशेषके कारण उसके पाँच भेद भेद हैं, अतः सर्वत्र ज्ञानावरणके पाँच भेद किये गये हैं। जो इंद्रिय और नोइंद्रियके अभिमुख अर्थात् ग्रहणयोग्य नियमित विषयको जानता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। यह पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्तसे अप्राप्तरूप बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप तथा प्राप्तरूप उन बारह प्रकारके पदार्थोंका स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र

इंद्रियोंके द्वारा मात्र अवग्रहरूप होता है, इसलिए इसके अनेक भेद हो जाते हैं। यथा अवग्रह आदिके भेदसे वह चार प्रकारका है, इन चार भेदोंको पाँच इन्द्रिय और मन इन छहसे गुणा करनेपर चौबीस प्रकारका है, इन चौबीस भेदोंमें व्यञ्जनावग्रहके चार भेद मिलानेपर अट्ठाईस प्रकारका है और इनमें अवग्रह आदि चार सामान्य भेद मिलानेपर बत्तीस प्रकारका है। पुनः इन ४, २४, २८ और ३२ भेदोंको छह प्रकारके पदार्थोंसे गुणा करनेपर २४, १४४, २६८ और १९२ प्रकारका है तथा १२ प्रकारके पदार्थोंसे गुणा करनेपर ४८, २२८, ३३६ और ३८४ प्रकारका है।

अवग्रहके भेदोंका स्वरूपनिर्देश करते हुए वीरसेन स्वामीने उनकी स्वतंत्र व्याख्या प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि अप्राप्त अर्थका ग्रहण अर्थावग्रह है और प्राप्त अर्थका ग्रहण व्यंजनावग्रह है। इस आधारसे उन्होंने स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इन्द्रियोंको प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके अर्थका ग्रहण करनेवाला माना है। इस कथनकी पुष्टिमें उन्होंने अनेक हेतु भी दिये हैं।

श्रोत्रेन्द्रियके विषयका ऊहापोह करते हुए उन्होंने भाषाके स्वरूपपर भी प्रकाश डाला है। वे अक्षरगत भाषाके भाषा और कुभाषा ये दो भेद करके लिखते हैं कि काश्मीर, देशवासी, पारसीक, सिंहल और वर्वरिक आदि जनोंकी भाषा कुभाषा है और ऐसी कुभाषाएँ सातसौ हैं। भाषाएँ अठारह हैं। इनका विभाग करते हुए वीरसेन स्वामीने भारत देशके मुख्य छह विभाग किये हैं और प्रत्येक विभागकी तीन तीन भाषाएँ मानी हैं। वे छह विभाग हैं -- कुरु, लाडु, मरहठा, मालव, गौड़ और मागध।

इसी प्रकार शब्द एक स्थानपर उत्पन्न होकर अन्य प्रदेशमें कैसे सुना जाता है, इस विषयका ऊहापोह करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द जिस प्रदेशमें उत्पन्न होते हैं उनमेंसे बहुभाग तो वहीं रह जाते हैं और एक भागप्रमाण शब्द उसमें लगे हुए प्रदेश तक जाते हैं। इनमें भी बहुभाग उस दूसरे प्रदेशमें रह जाते हैं और एक भागप्रमाण शब्द आगेके प्रदेश तक जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर कम कम होते हुए वे लोकके अन्ततक जाते हैं। समयके सम्बन्धमें विचार करते हुए उन्होंने दो समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल निर्धारित किया है। अर्थात् इन शब्दोंको अपने उत्पत्तिस्थानसे

लोकान्त तक जानेमें कमसे कम दो समय लगते हैं और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। उन्होंने शब्द लोकान्त तक जाते हैं, इस विषयको स्पष्ट करते हुए कहा है कि वे उछल कर जाते हैं। इसलिए जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे ही उछलकर लोकान्त तक जाते हैं या तरंगक्रमसे वे आगे नये नये शब्दोंको उत्पन्न कर लोकान्त तक जाते हैं, यह विचारणीय है। वे शब्द सुने कैसे जाते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि उत्पत्तिस्थानसे जो शब्द सीधमें सुने जाते हैं वे दो प्रकारसे सुने जाते हैं -- परघातरूपसे और अपरघातरूपसे। यदि वे दूसरे पदार्थसे टकराये नहीं हैं तो बाणके समान सीधी गतिसे आकर और कर्णछिद्रमें प्रविष्ट होकर सुने जाते हैं, और यदि वे दूसरेसे टकराकर सुने जाते हैं तो पहले वे सीधमें किसी पदार्थसे टकराते हैं और तब फिर सीधको छोड़कर अन्य दिशामें गति करते हैं, पश्चात् वे फिरसे अन्य पदार्थसे टकराकर सीधमें आकर सुने जाते हैं। यह श्रेणिगत शब्दोंके सम्बन्धमें विचार हुआ। इनसे भिन्न उच्छ्रेणिगत शब्द परघातसे (टकराकर) ही सुने जाते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञानावरणके प्रकरणको समाप्त करते हुए यहाँ अन्तमें आभिनिबोधिक ज्ञान और अवग्रह आदिके पर्याय शब्द दिये हैं और उसे 'अण्णा परूवणा' कहा है। आभिनिबोधिकज्ञानके पर्यायवाची शब्द लिखते हुए कहा है कि संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता उसके पर्यायवाची नाम हैं। जहाँ तक विदित हुआ है आगमिक परम्परामें प्रथम ज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान ही कहा गया है और संज्ञा आदि उसके पर्यायवाची नाम कहे गये हैं। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें आभिनिबोधिक ज्ञान शब्दके स्थानमें मतिज्ञान शब्द दृष्टिगोचर होता है और उसके बाद तत्त्वार्थसूत्रमें यह क्रम दिखायी देता है। श्वेताम्बर आगमसाहित्यमें भी इन शब्दोंके प्रयोगमें व्यत्यय देखा जाता है। उदाहरणार्थ समवायांग व नंदीसूत्रमें आभिनिबोधिकज्ञान शब्दका प्रयोग हुआ है, किन्तु अन्यत्र व्यत्यय देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि ये आभिनिबोधिक, मति और स्मृति आदि शब्द एक ही अर्थको कहते हैं, व्युत्पत्तिभेदसे इनमें जो अर्थबोध किया जाता है वह ग्राह्य नहीं है। हाँ, परोक्ष ज्ञानके भेदोंमें जो स्मृतिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान और तर्कज्ञान

ये भेद आते हैं वे अवश्य ही आभिनिबोधिकज्ञानसे भिन्न हैं और उनका समावेश मुख्यतया श्रुतज्ञानमें होता है।

ज्ञानका दूसरा भेद श्रुतज्ञान है। यह मतिज्ञानपूर्वक मनके आलम्बनसे होता है। तात्पर्य यह है कि पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा पदार्थको जानकर आगे जो उसीके सम्बन्धमें या उसके सम्बन्धसे अन्य पदार्थके सम्बन्धमें विचारकी धारा प्रवृत्त होती है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यहाँ सर्वप्रथम द्वादशांग वाणीकी मुख्यतासे उसके संख्यात भेद किये गये हैं, क्योंकि कुल अक्षर और उनके संयोगी भङ्ग संख्यात ही होते हैं। कुल अक्षर ६४ हैं। यथा -- २५ वर्गाक्षर, य, र, ल और व ये चार अन्तस्थ अक्षर, श, ष, स और ह ये ४ ऊष्माक्षर, अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, औ और औ ये नौ स्वर, दीर्घ और प्लुतके भेदसे २७, तथा अं, अः, = क और = प ये ४ अयोगवाह। इस प्रकार सब मिलाकर ६४ स्वतन्त्र अक्षर होते हैं। इनके एकसंयोगी और द्विसंयोगीसे लेकर चौसठ संयोगी तक सब अक्षर एकट्ठी प्रमाण होते हैं। एकट्ठीसे तात्पर्य १८४४६७४४०७३७०९५५९६९५ संख्यासे है। चौंसठ बार दो का अंक (२ X २X २ इत्यादि) रखकर और परस्पर गुणा कर लब्ध राशिमेंसे एक कम करनेपर यह संख्या आती है। द्वादशांग वाणीका संकलन इन सब अक्षरोंमें हुआ था और इसलिए यह बतलाया गया है कि किस अंगमें कितने अक्षर थे। वीरसेन स्वामीने इन संयोगी और असंयोगी अक्षरोंका स्वयं ऊहापोह किया है। वे बतलाते हैं कि अ आदि प्रत्येक असंयोगी अर्थात् स्वतंत्र अक्षर हैं और अनेक अक्षर मिलकर जो शब्द या वाक्य बनता है वह संयोगी अक्षरका उदाहरण है। इसके लिए उन्होंने 'या, श्रीः, सा गौ' यह दृष्टान्त उपस्थित किया है। इस दृष्टान्तमें 'य्, आ, श्, र्, ई, अः, स्, आ, ग्, औ और अः' ये ग्यारह अक्षर आये हैं। वीरसेन स्वामी इन्हें एक संयुक्ताक्षर मानते हैं। इससे द्वादशांगमें संयुक्त और असंयुक्त अक्षर किस प्रकारके होंगे और उनका उच्चारण किस प्रकारसे होता होगा, यह सब स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पुनरुक्त अक्षरोंका जो प्रश्न खड़ा किया जाता है उसपर भी इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। द्वादशांग वाणीमें पदका प्रमाण अलगसे माना गया है। इससे विदित होता है कि वहाँ पदोंकी परिगणना किसी वाक्यके एक श्लोकके एक चरणके आधारसे नहीं की जाती रही है, जिस प्रकार कि वर्तमानमें गद्यात्मक या पद्यात्मक ग्रन्थके परिमाणकी

गणना बत्तीस अक्षरोंके आधारसे की जाती है। विचार कर देखा जाय तो वहाँ एक अनुष्टुप्में केवल बत्तीस अक्षर ही नहीं होते; किन्तु मात्रा, विसर्ग और संयुक्त अक्षर बाद करके ये लिये जाते हैं। तथा गद्यात्मक या अनुष्टुप्के सिवा अन्य पद्यात्मक साहित्यमें चाहे वाक्य पूरा हो या न हो जहाँ बत्तीस अक्षर होते हैं वहाँ एक अनुष्टुप् श्लोकका परिमाण मान लिया जाता है। उसी प्रकार द्वादशांग वाणीमें भी मध्यम पदके द्वारा इन अक्षरोंकी परिगणना की गयी होगी। मात्र वहाँपर गणना करते समय मात्रा आदि भी अक्षरके रूपमें परिगणित किये गये होंगे। हाँ, प्रत्येक अंग ग्रन्थमें अपुनरुक्त अक्षरोंका विभाग किस प्रकार किया गया होगा और प्रत्येक ग्रन्थका इतना महा परिमाण कैसे सम्भव है, ये प्रश्न अवश्य ही ध्यान देनेयोग्य हैं। सम्भव है, उत्तर कालमें इनका भी निर्णय हो जाय और एतद्विषयक जिज्ञासा समाप्त हो जाय।

इस प्रकार अक्षरोंकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका विचार कर आगे क्षयोपशमकी दृष्टिसे उसका विचार किया गया है। इसमें सबसे अल्प क्षयोपशम रूप ज्ञानको श्रुतज्ञानका प्रथम भेद माना गया है। इसका नाम पर्यायज्ञान है। यह सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके होता है और नित्योद्घाटित है। अर्थात् इस ज्ञानके योग्य क्षयोपशमका संसारी छन्नस्थ जीवके कभी अभाव नहीं होता। इसका परिमाण अक्षरस्वरूप केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है। इसके बाद दूसरा भेद पर्यायसमास है। यह पर्यायज्ञानसे क्रमवृद्धिरूप है। वृद्धिका निर्देश धवलामें किया ही है। तीसरा भेद अक्षरज्ञान है। विवक्षित अकारादि एक अक्षरज्ञानके लिए जितना क्षयोपशम लगता है तत्रमाण यह ज्ञान है। इसी प्रकार क्रमवृद्धिरूप आगेके ज्ञान जानने चाहिए। इतनी विशेषता है कि पर्यायज्ञानके ऊपर छह स्थानपतित वृद्धि होती है और अक्षरज्ञानके ऊपर अक्षरज्ञानके क्रमसे वृद्धि होती है। यद्यपि कुछ आचार्य अक्षरज्ञानके ऊपर भी छह स्थानपतित वृद्धि स्वीकार करते हैं, पर वीरसेन स्वामी इससे सहमत नहीं हैं। पदज्ञानसे यहाँ मध्यम पदका ज्ञान लिया गया है। एक मध्यम पदमें १६३४८३०७८८८ अक्षर होते हैं, क्योंकि द्वादशांगके पदोंकी गणना इतने अक्षरोंका एक पद मानकर की जाती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होकर पूर्वसमास ज्ञानके अन्तिम विकल्पमें श्रुतज्ञानकी समाप्ति होती है। यह ज्ञान श्रुतकेवलीके होता है। इस प्रकार क्षयोपशमकी दृष्टिसे श्रुतज्ञानके कुल भेद २० होते हैं।

पूर्व चौदह हैं। उनमेंसे प्रथम पूर्वका नाम उत्पादपूर्व है और अन्तिम पूर्वका नाम लोकबिन्दुसार है। इसलिए प्रथम पूर्वको मुख्य मानकर क्षयोपशमकी वृद्धि करनेपर भी यही क्रम बैठता है और अन्तिम पूर्वको प्रथम मानकर क्षयोपशमकी वृद्धि करनेपर भी यही क्रम उपलब्ध होता है, क्योंकि सब पूर्वोंमें अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमासरूप ज्ञान विवक्षित है। किस क्रमसे ज्ञान होता है, इसकी यहाँ मुख्यता नहीं है, यह अभ्यासकी बात है। हो सकता है कि पर्याय और पर्यायसमास ज्ञानके बाद किसीको उत्पादपूर्वके एक अक्षरका ज्ञान सर्वप्रथम हो, किसीको एक अन्य पूर्वके एक अक्षरका ज्ञान सर्वप्रथम हो। ज्ञान किसी भी पूर्वका हो, वह होगा अक्षरादि क्रमसे ही; क्योंकि संघात आदि पूर्वके अधिकार हैं। किस पूर्वमें कितनी वस्तुएँ होती हैं, इसका अलगसे निर्देश किया है। सब वस्तुओंका ज्ञान वस्तुसमासज्ञान कहलाता है। मात्र एक अक्षरका ज्ञान इस ज्ञानमेंसे घटा देना चाहिए, क्योंकि, एक पूर्वसम्बन्धी सब वस्तुओंका पूरा ज्ञान हो जानेपर यह पूर्वज्ञान इस संज्ञाको प्राप्त होता है और सब पूर्वसम्बन्धी सब वस्तुओंका पूरा ज्ञान हो जानेपर उसकी पूर्वसमास श्रुतज्ञान संज्ञा होती है। इसी प्रकार वस्तुके अवान्तर अधिकार प्राभृतोंके सम्बन्धमें जानना चाहिए। तथा यही क्रम अन्य अधिकारों, अधिकारोंके पदों और पदोंके अक्षरोंके विषयमें भी जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि समस्त श्रुतज्ञानके विकल्प मुख्यतया चौदह पूर्वज्ञानसे सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञानमें पूर्वज्ञानकी ही मुख्यता है।

इस प्रकार समस्त श्रुतज्ञान चौदह पूर्वोंके ज्ञानके साथ सम्बन्धित हो जानेपर अंगबाह्य ज्ञान, ग्यारह अंगोंका ज्ञान और परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग तथा चूलिकाओंका ज्ञान, ये श्रुतज्ञानके किस भेदमें गर्भित हैं, यह प्रश्न उठता है। वीरसेन स्वामीने इस प्रश्नका इस प्रकार समाधान किया है -- वे कहते हैं कि इस सब ज्ञानका अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमासमें या प्रतिपत्तिसमास ज्ञानमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। यह पूछनेपर कि ये सब तो पूर्वसम्बन्धी अवान्तर अधिकार हैं, इनमें पूर्वातिरिक्त श्रुतज्ञानका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। इसपर वीरसेन स्वामीका कहना है कि ये पूर्वके अवान्तर

अधिकार ही होने चाहिए, ऐसी कोई बात नहीं है; पूर्वातिरिक्त साहित्यके भी ये अधिकार हो सकते हैं।

साधारणतः इस प्रकार समाधान तो हो जाता है, पर फिर भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि यदि यही बात थी तो समस्त श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेद समस्त पूर्वों और उनके अधिकारों व अवान्तर अधिकारोंकी दृष्टिसे ही क्यों किये गये है। पूर्वोंके ये अधिकार और अवान्तर अधिकार केवल दिगम्बर परम्परा ही स्वीकार करती हो ऐसी बात नहीं है। श्वेताम्बर परम्परामें भी ये इसी प्रकार स्वीकार किये गये हैं। हमारा विश्वास है कि विशेष अनुसन्धान करनेपर इससे ऐतिहासिक तथ्यपर प्रकाश पड़ना सम्भव है। क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि श्रुतज्ञानमें पहले पूर्वोसम्बन्धी ज्ञान ही विवक्षित था बादमें उसमें आचारांग आदि सम्बन्धी अन्य ज्ञान गर्भित किया गया है। जो कुछ हो, है यह प्रश्न विचारणीय। इस प्रकार श्रुतज्ञानकी प्ररूपणा करके अन्तमें उसके पर्याय नाम दिये गये हैं जो कई दृष्टियोंसे महत्त्व रखते हैं।

तीसरा ज्ञान अवधिज्ञान है। इसे मर्यादाज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिये हुए इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदिकी सहायताके विना होता है। क्षयोपशमकी दृष्टिसे असंख्यात प्रकारका होकर भी इसके मुख्य दो भेद हैं -- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों, नारकियों तथा तीर्थकरोंके होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यचों व मनुष्योंके होता है। देवों और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होते हुए भी पर्याप्त अवस्थामें ही होता है, इतना विशेष समझना चाहिए। तिर्यचों और मनुष्योंके गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त अवस्थामें ही होता है, यह स्पष्ट है। इन दोनों अवधिज्ञानोंके अनेक भेद हैं -- देशावधि, परमावधि और सर्वावधि तथा हीयमान, वर्द्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र। इन सबका विशेष विचार यहाँ वीरसेन स्वामीने किया है। किस अवधिज्ञानका द्रव्य, क्षेत्र और काल कितना है; इसका भी विचार मूल सूत्रोंमें और धवला टीकामें किया गया है।

ज्ञानका चौथा भेद मनःपर्यय ज्ञान है। यह दूसरेके मनमें अवस्थित विषयको जानता है, इसलिए इसकी मनःपर्ययज्ञान संज्ञा है। इसके दो भेद हैं -- ऋजुमति और विपुलमति। इनमें विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रका विचार करते हुए सूत्रमें कहा है कि यह ज्ञान उत्कृष्ट रूपसे मानुषोत्तर शैलके भीतर जानता है, बाहर नहीं। वीरसेन स्वामीने इसका व्याख्यान करते हुए क्षेत्रके विषयमें तो यह बतलाया है कि मानुषोत्तर शैल पैंतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्रका उपलक्षण है। इसलिए इससे मानुषोत्तर शैलके बाहरका प्रदेश भी लिया जा सकता है। कारण कि उत्कृष्ट विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जहाँ स्थित होगा वहाँसे दोनों ओरके समान क्षेत्रके विषयको ही जानेगा। मान लीजिए कि कोई एक विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी मानुषोत्तर शैलसे एक लाख योजन हटकर अवस्थित है। ऐसी अवस्थामें वह दोनों ओर साढ़े बाईस लाख तकके विषयको जानेगा, अतः स्वभावतः उसका विषयक्षेत्र मानुषोत्तर शैलके बाहर हो जायेगा। यह नहीं हो सकता कि एक ओर वह एक लाख योजन क्षेत्रका विषय जाने और दूसरी ओर ४४ लाख योजनका। (देखिए सूत्र क्र. ७७ का विशेषार्थ)

ज्ञानका पाँचवाँ भेद केवलज्ञान है। यह सकल है, सम्पूर्ण है और असपत्न है। खण्डरहित होनेसे वह सकल है। पूर्ण रूपेण विकासको प्राप्त होकर अवस्थित है, इसलिए सम्पूर्ण है। कर्मशत्रुओंका अभाव हो जानेके कारण असपत्न है। इसके विषयका निर्देश करते हुए बतलाया है कि यह सब लोक, सब जीव और सब भावोंको एक साथ जानता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि आत्माका स्वभाव जानना और देखना है। यदि वह समर्याद जानता है तो उसका कारण है। किन्तु जब सब प्रकारके प्रतिबन्धक कारण दूर हो जाते हैं तो फिर ज्ञानमें यह मर्यादा नहीं की जा सकती कि यह इतने कालके भीतरके विषयको ही जान सकता है। इसलिए केवलज्ञानका विषय तीनों कालों और तीनों लोकोंके समस्त पदार्थ माने गये हैं। ये ज्ञानके पाँच भेद हैं, इसलिए ज्ञानावरण कर्मके भी पाँच भेद माने गये हैं।

आत्मसंवेदनाका नाम दर्शन है। इसका जो आवरण करता है उसे दर्शनावरण कहते हैं। इसकी चक्षुदर्शनावरण आदि ९ प्रकृतियाँ हैं।

साधारणतः दर्शनके स्वरूपके विषयमें विवाद है। कुछ ऐसा मानते हैं कि ज्ञानके पूर्व तो सामान्यावलोकन होता है उसे दर्शन कहते हैं। किन्तु वीरसेन स्वामी यहाँ 'सामान्य' पदसे आत्माको ग्रहण करके यह अर्थ करते हैं कि उपयोगकी आभ्यन्तर प्रवृत्तिका नाम दर्शन और बाह्य प्रवृत्तिका नाम ज्ञान है। दर्शनमें कर्ता और कर्ममें भेद नहीं होता, परन्तु ज्ञानमें कर्ता और कर्मका स्पष्टतः भेद परिलक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि किसी विषयको जाननेके पहले जो आत्मोन्मुख वृत्ति होती है उसे दर्शन कहते हैं और घट आदि पदार्थोंको जानना ज्ञान है। दर्शनके मुख्य भेद चार हैं -- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए उसके पहले दर्शन नहीं होता, यह स्पष्ट ही है। इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान भी मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए उसके पहले भी दर्शन नहीं होता, यह भी स्पष्ट है। शेष रहे तीन ज्ञान, सो इनमें मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्तसे होता है। उसमें भी चाक्षुष ज्ञानको मुख्य मानकर दर्शनका एक भेद चक्षुदर्शन कहा गया है। शेष इन्द्रियों और मनकी मुख्यतासे दूसरे दर्शनका नाम अचक्षुदर्शन रखा है। अवधिज्ञानके पहले अवधिदर्शन होता है। यद्यपि आगममें अवधिदर्शनका सद्भाव चौथे गुणस्थानमें माना गया है, इसलिए विभंगज्ञानके पहले कौनसा दर्शन होता है यह शंका होती है, जो वीरसेन स्वामीके सामने भी थी। पर वीरसेन स्वामीने विभंगज्ञानके पहले होनेवाले दर्शनको अवधिदर्शन ही माना है। केवलज्ञानके साथ जो दर्शन होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। इस प्रकार दर्शन चार हैं, अतः इनको आवरण करनेवाले चार दर्शनावरण और निद्रादिक पाँच, कुल नौ दर्शनावरण माने गये हैं।

वेदनीय -- आत्माको जो सुख और दुःख का वेदन करानेमें सहायक है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके साता वेदनीय और असाता वेदनीय ये दो भेद हैं। साता परिणामका कारण साता वेदनीय और असाता परिणामका कारण असातावेदनीय कर्म है। यहाँपर वीरसेन स्वामीने दुःखके प्रतिकारमें कारणभूत द्रव्यका संयोग कराना और दुःखको उत्पन्न करनेवाले कर्मद्रव्यकी शक्तिका विनाश करना भी साता वेदनीय कर्मका कार्य माना है।

मोहनीय कर्म -- जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है। परको स्व समझना, स्व और परमें भेद न करना, स्वको परका कर्ता मान इष्टानिष्ट करनेके लिए या उसे ग्रहण करनेके लिए उद्यत होना और गृहीत होना स्व मानकर उसका संग्रह करना आदि सब मोहका कार्य है। इसके दो भेद हैं -- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीयके उदयमें 'स्व' की प्रतीति नहीं होती या 'पर' में 'स्व' की बुद्धि होती है और चारित्र मोहनीयके उदयमें परका ग्रहण और उसमें विविध प्रकारके भाव होते हैं।

दर्शनमोहनीय -- यह मूलमें एक है, अर्थात् बन्ध केवल मिथ्यात्वका ही होता है और अनादि कालसे जब तक जीव मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक मिथ्यात्वकी ही सत्ता रहती है, फल भी इसीका भोगना पड़ता है। किन्तु प्रथम वार सम्यक्त्वके होनेपर यह मिथ्यात्व कर्म तीन भागोंमें बँट जाता है -- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। नामानुसार कार्य भी इनके अलग अलग होते हैं। मिथ्यात्वके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है, सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है और सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे सम्यग्दर्शनमें दोष लगाता है। आगे दर्शनमोहनीयकी क्षपणा होने तक मिथ्यात्वकी सत्ता तो नियमसे बनी रहती है, परन्तु शेष दोषकी सत्ता मिटती-बनती रहती है। पल्यके असंख्यातवें भाग कालसे अधिक समय तक यदि मिथ्यात्वमें रहता है तो इनकी सत्ता नहीं रहती और इस बीच या नये सिरेसे सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो इनकी सत्ताका क्रम या तो चालू हो जाता है या पुनः प्राप्त हो जाती है। हाँ, दर्शनमोहनीयकी क्षपणाके बाद इनकी सत्ता नियमसे नहीं रहती, यह निश्चित है।

चारित्रमोहनीय -- इसके दो भेद हैं -- कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। कषायमोहनीयके १६ और नोकषायमोहनीयके ९ भेद हैं। इनके नाम और कार्य स्पष्ट हैं।

आयुर्कर्म -- जो नारक आदि भवधारणका कारण कर्म है उसे आयुर्कर्म कहते हैं। भव अन्य कर्मके उदयसे होता है। किन्तु उसमें विवक्षित समय तक रखना इस कर्मका

कार्य है। भवकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार इस कर्मकी भी तीव्रता और मन्दता जाननी चाहिए। भव मुख्य रूपसे चार हैं -- नारकभव, तिर्यचभव, मनुष्यभव और देवभव, अतः आयुकर्मके भी चार ही भेद हैं -- नारकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु।

नामकर्म -- जो जीवकी नारक आदि नाना अवस्थाओं और शरीर आदि नाना भेदोंके होनेमें कारण है उसे नामकर्म कहते हैं। इसके पिण्डप्रकृतियोंकी दृष्टिसे मुख्य भेद ब्यालीस हैं। जिस प्रकृतिका जो नाम है तदनुरूप उसका कार्य है। मात्र इस प्रकृतिका लक्षण करते समय जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंके विभागको ध्यानमें रखकर लक्षण करना चाहिए। आनुपूर्वीका उदय विग्रहगतिमें होता है। इसके उदयसे विग्रहगतिमें जीवप्रदेशोंका आनुपूर्वी क्रमसे विशिष्ट आकार प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि विग्रहगतिमें संस्थान नामकर्मका उदय नहीं होता, इसलिए जीवप्रदेशोंको विशिष्ट आकार प्रदान करना इसका मुख्य कार्य प्रतीत होता है। आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृति है, इसलिए अपनी अपनी गतिके विग्रहक्षेत्रके अनुसार तो इसके भेद होते ही हैं, साथ ही जितनी प्रकारकी अवगाहनाओंका त्याग होकर अगली गति प्राप्त होती है वे सब अवगाहनाएँ भी आनुपूर्वीके अवान्तर भेदोंकी कारण हैं। यही कारण है कि प्रत्येक आनुपूर्वीके विकल्पोंका विवेचन सूत्रकारने इन दो दृष्टियोंको ध्यानमें रखकर किया है। पहले तो एक अवगाहना और क्षेत्रके कारण जितने विकल्प सम्भव हैं वे लिये हैं, फिर इन विकल्पोंको अवगाहनाके विकल्पोंसे गुणित कर दिया है और इस प्रकार प्रत्येक आनुपूर्वीके सब विकल्प उत्पन्न किये गये हैं। इस प्रकार राजुके वर्गको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने नरकगत्यानुपूर्वीके भेद हैं। लोकको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने तिर्यग्गत्यानुपूर्वीके विकल्प हैं। पैंतालीस लाख योजन बाहल्यवाले राजुवर्गको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने मनुष्यगत्यानुपूर्वीके भेद होते हैं। और नौ सौ योजन बाहल्यरूप राजुप्रतरको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण

अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने देवगत्यानुपूर्वीके अवगाहनाविकल्प होते हैं। यहाँ पैंतालीस लाख योजन बाहल्यरूप राजुप्रतरको जगश्रेणिके असंख्यातर्वे भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर मनुष्यगत्यानुपूर्वीके कुल भेद उत्पन्न होते हैं, एक ऐसा उपदेश भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इन दो उपदेशोंमें प्रथम उपदेशके अनुसार नरकगत्यानुपूर्वीके भेद सबसे कम प्राप्त होते हैं और दूसरे उपदेशके अनुसार मनुष्यगत्यानुपूर्वीके भेद सबसे कम प्राप्त होते हैं। ये दोनोंही उपदेश सूत्रसिद्ध हैं, क्योंकि चारों आनुपूर्वियोंके अल्पबहुत्वका विचार इन दोनों उपदेशोंका आलम्बन लेकर किया है।

गोत्रकर्म -- गोत्रकर्मका अर्थ है जीवकी आचारगत परम्परा। यह दो प्रकारकी होती है -- उच्च और नीच। इसलिए गोत्रकर्मके भी दो भेद हो जाते हैं -- उच्चगोत्र और नीचगोत्र। ब्राह्मण परम्परामें रक्तकी आनुवंशिकता गोत्रमें विवक्षित है और जैन परम्परामें आचारगत परम्परा विवक्षित है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण परम्परामें जहाँ उच्चत्व और नीचत्वका सम्बन्ध जन्मसे अर्थात् माता-पिताकी जातिसे लिया गया है वहाँ जैन परम्परामें यह वस्तु सदाचार और असदाचारसे सम्बन्ध रखती है। इसी कारण वीरसेन स्वामीने अनेक प्रकारके शंका-समाधानके बाद उच्चगोत्रका लक्षण कहते समय यह कहा है कि जो दीक्षायोग्य साधु आचारवाले हैं, तथा साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, जिन्हें देखकर 'आर्य' ऐसी प्रतीति होती है और जो आर्य कहे भी जाते हैं ऐसे पुरुषोंकी सन्तानको उच्चगोत्री कहते हैं और इनसे विपरीत परम्परावाले नीचगोत्री कहलाते हैं।

अन्तरायकर्म -- दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति, उपभोगशक्ति और वीर्यशक्ति ये जीवकी स्वभावगत पाँच प्रकारकी शक्तियाँ मानी गयी हैं। इन्हें पाँच लब्धियाँ भी कहते हैं। इन्हीं पाँच लब्धियोंकी प्राप्तिमें जो अन्तराय करता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। न्यूनाधिक रूपमें संब संसारी जीवोंके अन्तराय कर्मका क्षयोपशम देखा जाता है, इसलिए अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार प्रत्येक जीवके ये पाँच लब्धियाँ

उपलब्ध होती हैं और तदनुसार इनका कार्य भी देखा जाता है। लोकमें माला, ताम्बूल आदि भोग और शय्या, अश्व आदि उपभोग माने जाते हैं। धनादिककी प्राप्तिको लाभ गिना जाता है, और आहारादिकके प्रदान करनेको दान कहा जाता है। इन वस्तुओंका ग्रहण होता है कषाय और योगसे ही; पर इनके ग्रहणमें जो भोग, उपभोग और लाभ भाव होता है वह अन्तराय कर्मके क्षयोपशमका फल है। इसी प्रकार आहारादिकका दान तो होता है कषायकी मन्दता या उसके अभावसे ही, पर आहारादिकके देनेमें जो भाव होता है वह भी दानान्तराय कर्मके क्षयोपशमका फल है। आशय यह है कि अन्तराय कर्मके क्षय और क्षयोपशमका कार्य इन भोगादिक भावोंको उत्पन्न करना है। यदि मिथ्यादृष्टि जीव है तो वह पर वस्तुओंके इन्द्रियोंके विषय होनेपर या उनके मिलनेपर उन्हें अपना भोग आदि मानता है, और यदि सम्यग्दृष्टि जीव है तो स्वके आधारसे स्वमें ही अपने भोगादिकको मानता है। भोगादि रूप परिणाम स्वमें हो या परमें, यह तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका माहात्म्य है। यहाँ तो केवल आत्मामें ये भोगादि भाव क्यों नहीं होते हैं, और यदि होते हैं तो किस कारणसे होते हैं, इसी बातका विचार किया गया है और इसके उत्तरस्वरूप बतलाया है कि भोगादि भावके न होनेका मुख्य कारण अन्तराय कर्म है। भोगादि भाव पाँच हैं, इसलिए अन्तराय के भी पाँच ही भेद हैं।

भावप्रकृति -- प्रकृतिनिक्षेपका चौथा भेद भावप्रकृति है। इसके दो भेद हैं -- आगमभावप्रकृति और नोआगमभावप्रकृति। आगमभावप्रकृतिमें प्रकृतिविषयक स्थित -- जित आदि अनेक प्रकारके शास्त्रोंका जानकार और उनके वाचना, पृच्छना आदि अनेक प्रकारके उपयोगसे युक्त आत्मा लिया गया है। जब तक कोई जीव प्रकृति विषयका प्रतिपादन करनेवाले स्थित - जित आदि शास्त्रोंको जानते हुए भी इन शास्त्रोंकी वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना और परिवर्तना आदि करता है तब तक वह आगमभावप्रकृति कहलाता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। तथा नोआगमभावप्रकृतिमें वर्तमान पर्याययुक्त वह वस्तु ली गयी है। यथा -- सुर, असुर और नाग। जो अहिंसा आदिके अनुष्ठानमें रत हैं वे सुर हैं, इनसे भिन्न असुर हैं तथा जो फणसे उपलक्षित हैं वे नाग हैं आदि। इसमें पर्यायकी मुख्यता है।

इस प्रकार प्रकृतिनिक्षेप नामादिकके भेदसे चार प्रकारका है। उनमेंसे यहाँ किसकी मुख्यता है, इस प्रश्नको ध्यानमें रखकर सूत्रकारने बतलाया है कि यहाँ कर्मप्रकृतिकी मुख्यता है। वीरसेन स्वामीने इसकी टीका करते हुए कहा है कि सूत्रकारने 'यहाँ कर्मप्रकृतिकी मुख्यता है' यह वचन उपसंहारको ध्यानमें रखकर कहा है। वैसे यहाँ नोआगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमभावप्रकृति इन दोनोंकी मुख्यता है। वीरसेन स्वामीके ऐसा कहनेका कारण यह है कि आगे केवल कर्मप्रकृतिका ही विवेचन न होकर इन दोनोंका भी विवेचन किया गया है।

यहाँ प्रारम्भमें १६ अनुयोगद्वारोंका नामनिर्देश किया था। किन्तु प्रकृतमें प्रकृतिनिक्षेप और प्रकृतिनयविभाषणता इन दो अधिकारोंका ही विचार किया है, शेषका विचार नहीं किया। अतएव उनके विषयमें विशेष जानकारीके लिए यह कहा है -- 'सेसं वेयणाए भंगो।' आशय यह है कि वेदनाखंडमें जिस प्रकार वर्णन किया है तदनुसार यहाँ शेष अनुयोगद्वारोंका वर्णन कर लेना चाहिए। **विषय परिचय**

स्पर्श अनुयोगद्वारसे वर्गणाखण्ड प्रारम्भ होता है। इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीन अधिकारोंके साथ बन्धन अनुयोगद्वारके बन्धन और बन्धनीय इन दो अधिकारोंका विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। फिर भी इसमें बन्धनीयका आलम्बन लेकर वर्गणाओंका सविस्तर वर्णन किया है, इसलिए इसे वर्गणाखण्ड इस नामसे सम्बोधित करते हैं।

## १. स्पर्श अनुयोगद्वार

स्पर्श छूनेको कहते हैं। यह नामस्पर्श और स्थापनास्पर्श आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है, इसलिए प्रकृतमें कौनसा स्पर्श गृहीत है यह बतलानेके लिए यहाँ स्पर्श अनुयोगद्वारका आलम्बन लेकर स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान आदि १६ अधिकारोंके द्वारा स्पर्शका विधान किया गया है।

१. स्पर्शनिक्षेप -- स्पर्शनिक्षेपके नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, सर्वस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श ये तेरह भेद हैं।

२.स्पर्शनयविभाषणता -- अभी जो स्पर्शनिक्षेपके तेरह भेद बतलाये हैं उनमेंसे कौन स्पर्श किस नयका विषय है यह बतलानेके लिए यह अधिकार आया है। नयके मुख्य भेद पाँच हैं -- नैगमनय, व्यवहारनय, संग्रहनय, ऋजुसूत्र नय और शब्दनय। इनमेंसे नैगमनय नामस्पर्श आदि सब स्पर्शोंको स्वीकार करता है। व्यवहार और संग्रहनय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शको स्वीकार नहीं करते, शेष ग्यारहको स्वीकार करते हैं। ये दोनों नय बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शोंको स्वीकार नहीं करते, इसके कारणका निर्देश करते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि इन नयोंकी दृष्टिमें एक तो बन्धस्पर्शका कर्मस्पर्शमें अंतर्भाव हो जाता है, इसलिए इसे अलगसे स्वीकार नहीं करते। दूसरे, बन्धस्पर्श बनता ही नहीं है, क्योंकि बन्ध और स्पर्श इनमें कोई भेद नहीं है, इसलिए भी इसे स्वीकार नहीं करते। तथा भव्यस्पर्श वर्तमान समयमें उपलब्ध नहीं होता, इसलिए बन्धस्पर्शके समान भव्यस्पर्श भी इनका विषय नहीं है। ऋजुसूत्र नय स्थापनास्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्य स्पर्श इन पाँचको स्वीकार नहीं करता, शेष नौ स्पर्शोंको स्वीकार करता है। ऋजुसूत्रनय एकक्षेत्रस्पर्शको क्यों विषय नहीं करता, इसके कारणका निर्देश करते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि नयकी दृष्टिमें एकक्षेत्र नहीं बनता, क्योंकि एकक्षेत्र पदका 'एक जो क्षेत्र वह एकक्षेत्र' ऐसा अर्थ करनेपर आकाशकी दृष्टिसे एक आकाशप्रदेश उपलब्ध होता है। परन्तु वह ऋजुसूत्रकी दृष्टिमें एकक्षेत्रस्पर्श नहीं बन सकता, क्योंकि स्पर्श दोका होता है, और यह नय दोको स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार इन नयकी दृष्टिसे अनन्तरक्षेत्रस्पर्श भी नहीं बनता, क्योंकि यह नय आधार-आधेयभावको स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार इस नयकी दृष्टिसे स्थापनास्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्शका निषेध जानना चाहिए। यहाँ यद्यपि सूत्रगाथामें ऋजुसूत्रके विषयरूपसे स्थापनास्पर्शका निषेध नहीं किया है, पर स्थापना ऋजुसूत्रका विषय नहीं है, इसलिए उसका निषेध स्वयं ही सिद्ध है। शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्शको स्वीकार करता है। इसका कारण बतलाते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि भावस्पर्श शब्दनयका विषय है यह तो स्पष्ट ही है। किन्तु नामके विना भावस्पर्शका कथन नहीं किया जा सकता है, इसलिए नामस्पर्श भी शब्दनयका विषय है। और द्रव्यकी विवक्षा किये बिना भी कर्कश आदि गुणोंका अन्य गुणोंके साथ संबंध देखा जाता है, इसलिए स्पर्शस्पर्श भी शब्दनयका विषय है।

आगे स्पर्शनामविधान आदि चौदह अनुयोगद्वारोंका मूलमें कथन न कर स्पर्शनिक्षेप आदि तेरह निक्षेपोंका ही स्वरूपनिर्देश किया है जो इस प्रकार है --

नामस्पर्श -- एक जीव, एक अजीव, नाना जीव, नाना अजीव, एक जीव और एक अजीव, एक जीव और नाना अजीव, नाना जीव और एक अजीव तथा नाना जीव और नाना अजीव, इनमेंसे किसीका भी 'स्पर्श' ऐसा नाम रखना नामस्पर्श है।

स्थापनास्पर्श -- काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोतकर्म आदि विविध प्रकारके कर्म तथा अक्ष आदि विविध प्रकारके कर्म तथा अक्ष और वराटक आदि जो भी संकल्पद्वारा स्पर्शनरूपसे स्थापित किये जाते हैं वह सब स्थापनास्पर्श है।

द्रव्यस्पर्श -- एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ जो सम्बन्ध होता है वह सब द्रव्यस्पर्श है। सब मिलाकर यह द्रव्यस्पर्श ६३ प्रकारका है, क्योंकि छहों द्रव्योंके एकसंयोगी ६, द्विसंयोगी १५, त्रिसंयोगी २०, चतुःसंयोगी १५, पंचसंयोगी ६ और छहसंयोगी १, कुल ६३ संयोगी भंग होते हैं।

एकक्षेत्रस्पर्श -- जो द्रव्य अपने एक अवयवद्वारा अन्य द्रव्यका स्पर्श करता है उसे एकक्षेत्रस्पर्श कहते हैं। जैसे एक आकाशप्रदेशमें अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु संयुक्त होकर या बन्धको प्राप्त होकर निवास करते हैं।

अनन्तरक्षेत्रस्पर्श -- विवक्षित क्षेत्रसे लगा हुआ क्षेत्र अनन्तर क्षेत्र कहलाता है। कोई द्रव्य विवक्षित क्षेत्रमें स्थित है और वह अन्य द्रव्य उससे लगे हुए क्षेत्रमें स्थित है। ऐसी अवस्थामें इन दो द्रव्योंका जो स्पर्श होता है वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श कहलाता है। इसी प्रकार जो द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध होते हैं उनका दो आकाशप्रदेशों आदिमें निरन्तर निवास करनेपर उन स्कन्धोंमें रहनेवाले परमाणुओंका भी अनन्तरक्षेत्रस्पर्श घटित कर लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जहाँ क्षेत्रका व्यवधान न होकर दो द्रव्योंका स्पर्श होता है वहाँ यह स्पर्श घटित होता है।

देशस्पर्श -- एक द्रव्यके एकदेशका अन्य द्रव्यके एकदेशके साथ जो स्पर्श होता है उसे देशस्पर्श कहते हैं। यह देशस्पर्श अवयवोंका ही होता है, परमाणुरूप पुद्गलोंका नहीं, क्योंकि, परमाणुओंके अवयव नहीं उपलब्ध होते; यदि ऐसा कोई कहे तो उसका यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि परमाणुका विभाग नहीं हो सकता इस अपेक्षा उसे अप्रदेशी कहा है। वैसे तो परमाणु भी सावयव होता है, अन्यथा परमाणुओंके संयोगसे स्कन्धकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए दो या दोसे अधिक परमाणुओंका भी एकदेशस्पर्श होता है।

त्वक्स्पर्श -- वृक्षकी छालको त्वक् और पपड़ीको नोत्वक् कहते हैं। तथा सूरण, अदरख, प्याज और हल्दी आदिकी बाह्य पपड़ीको भी नोत्वक् कहते हैं। द्रव्यका त्वचा और नोत्वचाके साथ जो स्पर्श होता है उसे त्वक्स्पर्श कहते हैं। त्वचा और नोत्वचा ये स्कन्धके ही अवयव हैं, इसलिए पृथक् द्रव्य न होनेसे इसका द्रव्यस्पर्शमें अन्तर्भाव नहीं किया है। यहाँ त्वचा और नोत्वचाके एक और नाना भेद करके आठ भंग उत्पन्न करना चाहिए। ये भेद वीरसेन स्वामीने लिखे हैं, इसलिए इनका अलगसे विवेचन नहीं किया है। यहाँ त्वचा और नोत्वचाका द्रव्यके साथ अथवा परस्पर स्पर्श विवक्षित है, इतना विशेष जानना चाहिए।

सर्वस्पर्श -- स्पर्शगुणके आठ भेद हैं। उनका स्पर्शन इंद्रियके साथ जो स्पर्श होता है उसे स्पर्शनस्पर्श कहते हैं। यहाँपर कर्कश आदि गुणोंके परस्पर स्पर्शकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अन्य रूप आदि गुणोंका भी स्पर्श लेना पड़ेगा। किन्तु सूत्रमें स्पर्शस्पर्शसे कर्कश आदि आठ प्रकारके स्पर्शका ही ग्रहण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ कर्कश आदिका परस्पर स्पर्श विवक्षित नहीं है।

कर्मस्पर्श -- ज्ञानावरण आदिके भेदसे कर्म आठ प्रकारके हैं। इनका तथा इनके विस्त्रसोपचयोंका जीवके साथ जो सम्बन्ध है वह सब कर्मस्पर्श कहलाता है। ज्ञानावरणादि कुल कर्म आठ हैं। इनमेंसे प्रत्येक कर्मका अपने साथ व अन्य कर्मोंके साथ सम्बन्ध है, अतः कुल चौसठ भंग होते हैं। उनमेंसे पुनरुक्त २८ भंगोंको कम कर देनेपर ३६ अपुनरुक्त भंग शेष रहते हैं।

बन्धस्पर्श -- औदारिक शरीरका औदारिक शरीरके साथ, तथा इसी प्रकार अन्य शरीरोंका अपने अपने साथ जो स्पर्श होता है उसे बन्धस्पर्श कहते हैं। कर्मका कर्म और नोकर्मका नोकर्मके साथ तथा नोकर्मका नोकर्मके साथ तथा नोकर्मका नोकर्मके और कर्मके साथ स्पर्श होता है, यह दिखलानेके लिए कर्मस्पर्श और बन्धस्पर्शको द्रव्यस्पर्शसे अलग कहा है। इस बन्धस्पर्शके कुल २३ भंग हैं। उनमेंसे ९ पुनरुक्त भंग अलग कर देनेपर १४ अपुनरुक्त भंग शेष रहते हैं। वीरसेन स्वामीने इनका अलगसे निर्देश किया ही है।

भव्यस्पर्श -- जो आगे स्पर्श करनेयोग्य होंगे, परन्तु वर्तमानमें स्पर्श नहीं करते, वह भव्यस्पर्श कहलाता है। मूल सूत्रमें इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये हैं -- विष, कूट, यंत्र, पिंजरा, कन्दक और जाल आदि तथा इनको करनेवाले और इन्हें इच्छित स्थानमें रखनेवाले।

यद्यपि इनका जाल आदि तथा इनको करनेवाले तथा इन्हें इच्छित स्थानमें रखनेवाले। यद्यपि इनका वर्तमानमें अन्य पदार्थोंसे स्पर्श नहीं हो रहा है, पर आगे होगा, इसलिए इसकी भव्यस्पर्श संज्ञा है।

भावस्पर्श -- स्पर्शविषयक शास्त्रका जानकार और वर्तमानमें उसके उपयोगवाला जीव भावस्पर्श कहलाता है। जो स्पर्शविषयक शास्त्रका ज्ञाता नहीं है, परन्तु स्पर्शरूप उपयोगसे उपयुक्त है, उसकी भी भावस्पर्श संज्ञा है। अथवा जीव और पुद्गल आदि द्रव्योंके जो ज्ञान आदि भाव होते हैं उनके सम्बन्धको भी भावस्पर्श कहते हैं।

इस प्रकार ये कुल १३ स्पर्श हैं। इनमेंसे इस शास्त्रमें कर्मस्पर्शसे ही प्रयोजन है, क्योंकि यह शास्त्र अध्यात्मविद्याका विवेचन करता है, इसलिए यहाँ अन्य स्पर्श नहीं लिये गये हैं और न स्पर्शनामविधान आदि अन्य अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर उनका विचार ही किया है। उसमें भी कर्मका विवेचन वेदना आदि अनुयोगद्वारोंमें विस्तारके साथ किया है, इसलिए यहाँ उसका भी कर्मस्पर्शनयविभाषणता आदि अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर लेकर विचार नहीं किया है।

२) कर्म अनुयोगद्वार -- कर्मका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है क्रिया। निक्षेपव्यवस्थाके अनुसार इसके नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ये दस भेद हैं। साधारणतः कर्मका कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता आदि सोलह अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर विचार किया जाता है। यहाँ सर्वप्रथम कर्मनिक्षेपके दस भेद गिनाकर किस कर्मको कौन नय स्वीकार करता है, यह बतलाया है। इसके बाद प्रत्येक निक्षेपके स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है। नयके पाँच भेद पहले लिख आये हैं। उनमेंसे नैगमनय, व्यवहारनय और संग्रहनय सब कर्मोंको विषय करते हैं। ऋजुसूत्रनय स्थापनाकर्मके सिवा शेष नौ कर्मोंको स्वीकार करता है तथा शब्दनय नामकर्म और भावकर्मको ही स्वीकार करता है। कारण स्पष्ट है। नामकर्म और स्थापनाकर्म सुगम हैं। जीव या अजीवका 'कर्म' ऐसा नाम रखना नामकर्म है। काष्ठकर्म आदिमें तदाकार या अतदाकार कर्मकी स्थापना करना स्थापनाकर्म है।

द्रव्यकर्म -- जिस द्रव्यकी जो सद्भाव क्रिया है। उदाहरणार्थ ज्ञान-दर्शन रूपसे परिणमन करना जीव द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। वर्ण, गन्ध आदि रूपसे परिणमन करना पुद्गल द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। जीवों और पुद्गलोंके गमनागमनमें हेतुरूपसे परिणमन करना धर्मद्रव्यकी

सद्भाव क्रिया है। जीवों और पुद्गलोंके स्थित होनेके हेतुरूपसे परिणमन करना अधर्म द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। सब द्रव्योंके परिणमनमें हेतु होना काल द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। अन्य द्रव्योंके अवकाशदानरूपसे परिणमन करना आकाश द्रव्यकी सद्भाव क्रिया है। इस प्रकार विवक्षित क्रियारूपसे द्रव्योंके परिणमनका जो स्वभाव है वह सब द्रव्यकर्म है।

प्रयोगकर्म -- मनःप्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोगकर्मके भेदसे प्रयोगकर्म तीन प्रकारका है। मन, वचन और काय आलम्बन हैं। इनके निमित्तसे जो जीवका परिस्पन्द होता है उसे प्रयोगकर्म कहते हैं। मनःप्रयोगकर्म और वचनप्रयोगकर्ममेंसे प्रत्येक सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे चार प्रकारका है। कायप्रयोगकर्म औदारिकशरीर कायप्रयोगकर्म आदिके भेदसे सात प्रकारका है। यह तीनों प्रकारका प्रयोगकर्म यथासम्भव संसारी जीवोंके और सयोगी जिनके होता है।

समवदानकर्म -- जीव आठ प्रकारके, सात प्रकारके या छह प्रकारके कर्मोंको ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त होता है, इसलिए यह सब समवदानकर्म है। समवदानका अर्थ विभाग करना है। जीव मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके निमित्तसे कर्मोंको ज्ञानावरणादिरूपसे आठ, सात या छह भेद करके ग्रहण करता है, इसलिए इसे समवदानकर्म कहते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

अधःकर्म -- जीव अंगछेदन, परिताप और आरम्भ आदि नाना कार्य करता है। उसमें भी ये कार्य औदारिकशरीरके निमित्तसे होते हैं, इसलिए उसकी अधःकर्म संज्ञा है। यद्यपि नारकियोंके वैक्रियिकशरीरके द्वारा भी ये कार्य देखे जाते हैं, पर वहाँ इनका फल जीववध नहीं दिखायी देता। इसीलिए औदारिकशरीरकी ही यह संज्ञा है।

ईर्यापथकर्म -- ईर्या अर्थात् केवल योगके निमित्तसे जो कर्म होता है वह ईर्यापथकर्म कहलाता है। यह ग्यारहवेंसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक होता है, क्योंकि योग इन्हीं गुणस्थानोंमें उपलब्ध होता है। यहाँ वीरसेन स्वामीने तीन पुरानी गाथाओंको उद्धृत कर ईर्यापथकर्मका अति सुन्दर विवेचन करते हुए लिखा है कि ईर्यापथकर्म अल्प है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म अल्प अर्थात् एक समय तक ही रुकते हैं। वह बादर है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्मपुद्गल बहुत होते हैं। यहाँ यह कथन वेदनीय कर्मकी मुख्यतासे किया है। वह मृदु है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म कर्कश आदि गुणोंसे रहित होते हैं। वह रूक्ष है, क्योंकि

इसके द्वारा गृहीत कर्म रूक्ष गुणयुक्त होते हैं। वह शुक्ल है, क्योंकि इसके द्वारा गृहीत कर्म अन्यवर्णसे रहित एकमात्र शुक्लरूपको लिये हुए होते हैं। वह मन्द है क्योंकि वह सातारूप परिणामको लिये हुए होता है। वह महाव्ययवाला है, क्योंकि यहाँ असंख्यातगुणी निर्जरा देखी जाती है। वह सातारूप है, क्योंकि वहाँ भूख-प्यास आदिकी बाधा नहीं देखी जाती। वह गृहीत होकर भी अगृहीत है, बद्ध होकर भी अबद्ध है, स्पृष्ट होकर भी अस्पृष्ट है, उदित होकर भी अनुदित है, वेदित होकर भी अवेदित है, निर्जरावाला होकर भी एक साथ निर्जरावाला नहीं है और उदीरित होकर भी अनुदीरित है। कारणका निर्देश वीरसेन स्वामीने किया ही है।

तपःकर्म -- रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए जो इच्छाओंका निरोध किया जाता है वह तप कहलाता है। इसके बारह भेद हैं -- छह आभ्यन्तर तप और छह बाह्य तप। बाह्य तपोंमें पहला अनशन है। इसे अनेषण भी कहते हैं। विवक्षित दिन या कई दिन तक किसी प्रकारका आहार न लेना अनशन तप है। स्वाभाविक आहारसे कम आहार लेना अवमौदर्य तप है। सामान्यतः पुरुषका आहार ३२ ग्रासका और महिलाका आहार २८ ग्रासका माना गया है। एक ग्रास हजार चावलका होता है और इसी अनुपातसे यहाँ पुरुष और महिलाके ग्रासोंका विधान किया गया है। वैसे जो जिसका स्वाभाविक आहार है वह उसका आहार माना गया है और इससे न्यून आहार अवमौदर्य तप कहलाता है। भोजन, भाजन और घर आदिको वृत्ति कहते हैं और इसका परिसंख्यान करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। और, गुड़, घी, नमक और दही आदि रस हैं। इनका परित्याग करना रसपरित्याग तप है। वृक्षके मूलमें निवास, आतापन, योग और पर्यकासन आदिके द्वारा जीवका दमन करना कायक्लेश तप है। तथा विविक्त अर्थात् एकान्तमें उठना, बैठना व शयन करना विविक्तशय्यासन तप है। यह छह प्रकारका बाह्य तप है। यह बाह्य अर्थात् मार्गविमुख जनोंके भी ध्यानमें आता है, इसलिए इसकी बाह्य तप संज्ञा है।

कृत अपराधके निराकरणके लिए जो अनुष्ठान किया जाता है उसकी प्रायश्चित्त संज्ञा है। यहाँपर प्रायः शब्दका अर्थ लोक है और चित्तका अर्थ मन है। अतः चित्तका संशोधन करना ही प्रायश्चित्त है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। वह प्रायश्चित्त आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धानके भेदसे दस प्रकारका है। इनमेंसे आलोचना गुरुकी साक्षीपूर्वक और प्रतिक्रमण गुरुके विना अल्प अपराध होनेपर किया जाता है। तदुभय स्पष्ट ही है। गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदिसे अलग करना विवेक है। तात्पर्य यह है

कि जिस द्रव्य आदिके संयोगसे दोषोत्पत्तिकी सम्भावना हो उससे जुदा कर देना प्रायश्चित्त है। ध्यानपूर्वक नियत समयके लिए कायसे मोह छोड़कर स्थित रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। उपवास, आचाम्ल आदि करना तप प्रायश्चित्त है। विवक्षित समय तककी दीक्षाका छेद करना प्रायश्चित्त है। पूरी दीक्षाका छेद करना मूल प्रायश्चित्त है। परिहार दो प्रकारका है -- अनवस्थाप्य और पारंचिक। अनवस्थाप्यका जघन्य काल छह मास और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। वह कायभूमिसे दूर रहकर विहार करता है, उसकी कोई प्रतिवन्दना नहीं करता, वह गुरुके साथ ही सम्भाषण कर सकता है। पारंचिक तपमें इतनी विशेषता है कि इसे जहाँ साधर्मि बन्धु नहीं होते ऐसे क्षेत्रमें आहारादिकी विधि सम्पन्न करते हुए निवास करना पड़ता है। यह दोनों प्रकारका प्रायश्चित्त राज्यविरुद्ध कार्य करनेपर दिया जाता है। मिथ्यात्वको प्राप्त होनेपर पुनः सद्धर्मको स्वीकार करना श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त है।

ज्ञानादिके भेदसे विनय पाँच प्रकारका है। आचार्य आदिकी आपत्तिको दूर करना वैयावृत्य तप है। जिनागमके रहस्यका अध्ययन करना स्वाध्याय तप है। एकाग्र होकर अन्य चिन्ताका निरोध करना ध्यान तप है। कषायोंके साथ देहका त्याग करना कायोत्सर्ग तप है। यह छह प्रकारका अभ्यन्तर तप है।

यहाँ ध्यानका विस्तारसे वर्णन करते हुए ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानका फल इन चारोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। ध्यानके चार भेदोंमेंसे धर्म्यध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक ओर शुक्लध्यान उपशान्तमोह गुणस्थानसे होता है, यह बतलाया है। शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम ध्यान उपशान्तकषाय गुणस्थानमें मुख्य रूपसे होता है और कदाचित् एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान भी होता है। क्षीणमोह गुणस्थानमें एकत्ववितर्कअवीचार ध्यान मुख्य रूपसे होता है और प्रारम्भमें पृथक्त्ववितर्कअवीचार ध्यान भी होता है।

क्रियाकर्म -- इसमें आत्माधीन होकर गुरु, जिन और जिनालयकी तीन बार प्रदक्षिणा की जाती है। अथवा तीनों सन्ध्याकालोंमें नमस्कारपूर्वक प्रदक्षिणा की जाती है, तीन बार भूमिपर बैठकर नमस्कार किया जाता है। विधि यह है कि शुद्ध मनसे और पादप्रक्षालन कर जिन भगवानके आगे बैठना प्रथम नमस्कार है। फिर उठकर और प्रार्थना करके बैठना दूसरा नमस्कार है। पुनः उठकर और सामायिक दण्डक द्वारा आत्मशुद्धि करके कषाय और शरीरका

उत्सर्ग करके जिन देवके अनन्त गुणोंका चिन्तवन करते हुए चौबीस तीर्थकरोंकी वन्दना करके तथा जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके बैठना तीसरा नमस्कार है। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें तीन अवनति होती हैं। सब क्रियाकर्म चार नमस्कारोंको लिये हुए होता है। यथा सामायिकके आरम्भमें और अन्तमें जिनदेवको नमस्कार करना तथा 'त्थोस्सामि' दंडकके आदिमें और अन्तमें नमस्कार करना। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें चार नमस्कार होते हैं। तथा प्रत्येक नमस्कारके प्रारम्भमें मन, वचन और कायकी शुद्धिके ज्ञापन करनेके लिए तीन आवर्त किये जाते हैं। सब आवर्त बारह होते हैं। यह क्रियाकर्म है। मूलाचार और प्राचीन अन्य साहित्यमें भी उपासनाकी यही विधि उपलब्ध होती है। यह साधु और श्रावक दोनोंके द्वारा अवश्यकरणीय है।

भावकर्म -- जिसे कर्मप्राभृतका ज्ञान है और उसका उपयोग है उसे भावकर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्मके दस भेद हैं। उनमेंसे प्रकृतमें समवदानकर्मका प्रकरण है, क्योंकि कर्म अनुयोगद्वारमें इसीका विवेचन किया गया है।

इसके आगे वीरसेन स्वामीने प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्म इन छह कर्मोंका सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अधिकारोंके द्वारा ओघ ओर आदेशसे विवेचन किया है। यथा -- ओघसे छहों कर्म हैं। आदेशसे नारकियों और देवोंमें प्रयोगकर्म, समवदानकर्म और क्रियाकर्म हैं। शेष नहीं हैं। तिर्यचोंमें ईर्यापथकर्म और तपःकर्म नहीं हैं, शेष चार हैं। मनुष्योंमें छहों कर्म हैं। कारण स्पष्ट है। इसी प्रकार शेष मार्गणाओंमें घटित कर लेना चाहिए। तात्पर्य इतना है कि प्रयोगकर्म तेरहवें गुणस्थानतक सब जीवोंके उपलब्ध होता है, क्योंकि यथासम्भव मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति अयोगी और सिद्ध जीवोंको छोड़कर सर्वत्र पायी जाती है। समवदानकर्म सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानतक सब जीवोंके होता है, क्योंकि यहाँ तक किसीके आठ, किसीके सात और किसीके छह प्रकारके कर्मोंका निरन्तर बन्ध होता रहता है। अधःकर्म केवल औदारिक शरीरके आलम्बनसे होता है, इसलिए इसका सद्भाव मनुष्य और तिर्यचोंके ही होता है। ईर्यापथकर्म, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवलीके होता है, इसलिए यह मनुष्योंके बतलाया गया है। क्रियाकर्म अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे होता है, अतः इसका सद्भाव चारों गतियोंमें कहा गया है। तपःकर्म प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे होता है, अतः इसके स्वामी मनुष्य ही हैं। यह चार

गतिका विवेचन है। अन्य मार्गणाओंमें इस विधिको जानकर घटित कर लेना चाहिए। तथा इसी विधिके अनुसार ओघ और आदेशसे इनकी संख्या आदि भी जान लेनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि संख्या आदि प्ररूपणाओंका विचार करते समय इन छह कर्मोंकी द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थताकी अपेक्षा कथन किया है। इसलिए यहाँ इनकी द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थताका ज्ञान करा देना आवश्यक है।

प्रयोगकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्ममें उस उस कर्मवाले जीवोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन जीवोंके प्रदेशोंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। समवदानकर्म और ईर्यापथकर्ममें उस उस कर्मवाले जीवोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन जीवोंसे सम्बन्धको प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। अधःकर्ममें औदारिक शरीरके नोकर्मस्कन्धोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और औदारिक शरीरके उन नोकर्मस्कन्धोंके परमाणुओंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। इसलिए संख्या आदिका विचार कर इन कर्मोंकी द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थताकी संख्या आदिकी समझकर करना चाहिए।

## २) प्रकृति अनुयोगद्वार

प्रकृति, शील और स्वभाव इनका एक ही अर्थ है। उसका जिस अनुयोगद्वारमें विवेचन हो उसका नाम प्रकृति अनुयोगद्वार है। इसका विचार प्रकृतिनिक्षेप आदि सोलह अनुयोगद्वारोंका आलम्बन लेकर किया जाता है। उसमें पहले प्रकृतिनिक्षेपका विचार करते हुए नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति ये चार भेद किये गये हैं और इसके बाद कौन नय किस प्रकृतिको स्वीकार करता है, यह बतलाते हुए कहा है कि नैगम, व्यवहार और संग्रह नय सब प्रकृतियोंको स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र नय स्थापना प्रकृतिको स्वीकार नहीं करता। शब्दनय केवल नाम और भाव प्रकृतिको स्वीकार करता है। कारण स्पष्ट है। आगे नामप्रकृति आदिका विस्तारसे विचार किया गया है। यथा --

नामप्रकृति -- जीव और अजीवके एकवचन और बहुवचन तथा एकसंयोगी और द्विसंयोगी जो आठ भेद हैं उनमेंसे जिस किसीका 'प्रकृति' ऐसा नाम रखना वह नामप्रकृति है।

स्थापनाप्रकृति -- काष्ठकर्म आदिमें व अक्ष और वराटक आदिमें बुद्धिसे 'यह प्रकृति है' ऐसी स्थापना करना वह नामप्रकृति है।

द्रव्यप्रकृति -- द्रव्यका अर्थ भव्य है। इसके दो भेद हैं -- आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति। आगमद्रव्यप्रकृतिमें प्रकृतिविषयक शास्त्रका जानकार उपयोगरहित जीव लिया गया है। अतः आगमके अधिकारीभेदसे स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम ये नौ भेद करके उनकी वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति और धर्मकथा द्वारा ज्ञानसम्पादनकी बात कही है। इस विधिसे प्रकृतिविषयक ज्ञान सम्पादन कर जो उसके उपयोगसे रहित है वह आगमप्रकृतिद्रव्य कहलाता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। द्रव्यप्रकृतिका दूसरा भेद नोआगमद्रव्यप्रकृति है। इसके दो भेद हैं - कर्मद्रव्यप्रकृति और नोकर्मद्रव्यप्रकृति। यहाँ सर्वप्रथम नोकर्मद्रव्यप्रकृतिके अनेक भेदोंका संकेत करके कुछ उदाहरणोंद्वारा नोकर्मकी प्रकृति बतलायी गयी है। यथा -- घट, सकोरा आदिकी प्रकृति मिट्टी है, धानकी प्रकृति जौ है और तर्पणकी प्रकृति गेहूँ है। तात्पर्य यह है कि किसी कार्यके होनेमें जो पदार्थ निमित्त पड़ते हैं उन्हें नोकर्म कहते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्डमें ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी दृष्टिसे प्रत्येक कर्मके नोकर्मका विवेचन किया है। यथा -- वस्त्र ज्ञानावरणका नोकर्म है। प्रतीहार दर्शनावरणका नोकर्म है। तलवार वेदनीयका नोकर्म है। मद्य मोहनीयका नोकर्म है। आहार आयुर्कर्मका नोकर्म है। देह नामकर्मका नोकर्म है। उच्च-नीच शरीर गोत्रकर्मका नोकर्म है। भण्डारी गोत्रकर्मका नोकर्म है। तात्पर्य यह है कि वस्त्रादि द्रव्यके सामने आ जानेपर ज्ञानावरणका उदयविशेष होता है, जिससे वस्तुका ज्ञान नहीं होता इसलिए इसकी नोकर्म संज्ञा है। इसी प्रकार अन्य कर्मके नोकर्मको घटित कर लेना चाहिए। वहाँ ये मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा नोकर्म कहे गये हैं। उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा नोकर्मका विचार करते हुए इष्ट अन्न-पान आदिको सातावेदनीयका और अनिष्ट अन्न-पान आदिको असातावेदनीयका नोकर्म कहा गया है। इसका भी यही तात्पर्य है कि इष्ट अन्न-पान आदिका संयोग होनेपर सातावेदनीयकी उदय-उदीरणा होती है और अनिष्ट अन्न-पान आदिका संयोग होनेपर असाता वेदनीयकी उदय-उदीरणा होती है। इन बाह्य पदार्थोंके संयोग-वियोग

यथासम्भव उस कर्मके उदय-उदीरणामें निमित्त होते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यहाँ प्रकृति अनुयोगद्वारमें मुख्य रूपसे नोकर्मकी क्या प्रकृति है, इसका विचार हो रहा है। इसलिए किस कार्यका क्या नोकर्म है, यह न बतलाकर जो पदार्थ नोकर्म हो सकते हैं उनकी प्रकृतिका निर्देश किया गया है।

कर्मप्रकृतिके ज्ञानावरण आदि आठ भेद हैं। इनका स्वरूप इनके नामसे ही परिज्ञात हैं। ज्ञानावरण -- ज्ञान एक होकर भी बन्धविशेषके कारण उसके पाँच भेद भेद हैं, अतः सर्वत्र ज्ञानावरणके पाँच भेद किये गये हैं। जो इंद्रिय और नोइंद्रियके अभिमुख अर्थात् ग्रहणयोग्य नियमित विषयको जानता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। यह पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्तसे अप्राप्तरूप बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप तथा प्राप्तरूप उन बारह प्रकारके पदार्थोंका स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इंद्रियोंके द्वारा मात्र अवग्रहरूप होता है, इसलिए इसके अनेक भेद हो जाते हैं। यथा अवग्रह आदिके भेदसे वह चार प्रकारका है, इन चार भेदोंको पाँच इन्द्रिय और मन इन छहसे गुणा करनेपर चौबीस प्रकारका है, इन चौबीस भेदोंमें व्यञ्जनावग्रहके चार भेद मिलानेपर अट्ठाईस प्रकारका है और इनमें अवग्रह आदि चार सामान्य भेद मिलानेपर बत्तीस प्रकारका है। पुनः इन ४, २४, २८ और ३२ भेदोंको छह प्रकारके पदार्थोंसे गुणा करनेपर २४, १४४, २६८ और १९२ प्रकारका है तथा १२ प्रकारके पदार्थोंसे गुणा करनेपर ४८, २२८, ३३६ और ३८४ प्रकारका है।

अवग्रहके भेदोंका स्वरूपनिर्देश करते हुए वीरसेन स्वामीने उनकी स्वतंत्र व्याख्या प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि अप्राप्त अर्थका ग्रहण अर्थावग्रह है और प्राप्त अर्थका ग्रहण व्यंजनावग्रह है। इस आधारसे उन्होंने स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन चार इंद्रियोंको प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके अर्थका ग्रहण करनेवाला माना है। इस कथनकी पुष्टिमें उन्होंने अनेक हेतु भी दिये हैं।

श्रोत्रेन्द्रियके विषयका ऊहापोह करते हुए उन्होंने भाषाके स्वरूपपर भी प्रकाश डाला है। वे अक्षरगत भाषाके भाषा और कुभाषा ये दो भेद करके लिखते हैं कि काश्मीर, देशवासी, पारसीक, सिंहल और वर्वरिक आदि जनोंकी भाषा कुभाषा है और ऐसी

कुभाषाएँ सातसौ हैं। भाषाएँ अठारह हैं। इनका विभाग करते हुए वीरसेन स्वामीने भारत देशके मुख्य छह विभाग किये हैं और प्रत्येक विभागकी तीन तीन भाषाएँ मानी हैं। वे छह विभाग हैं -- कुरु, लाटु, मरहटा, मालव, गौड़ और मागध।

इसी प्रकार शब्द एक स्थानपर उत्पन्न होकर अन्य प्रदेशमें कैसे सुना जाता है, इस विषयका ऊहापोह करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द जिस प्रदेशमें उत्पन्न होते हैं उनमेंसे बहुभाग तो वहीं रह जाते हैं और एक भागप्रमाण शब्द उसमें लगे हुए प्रदेश तक जाते हैं। इनमें भी बहुभाग उस दूसरे प्रदेशमें रह जाते हैं और एक भागप्रमाण शब्द आगेके प्रदेश तक जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर कम कम होते हुए वे लोकके अन्ततक जाते हैं। समयके सम्बन्धमें विचार करते हुए उन्होंने दो समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल निर्धारित किया है। अर्थात् इन शब्दोंको अपने उत्पत्तिस्थानसे लोकान्त तक जानेमें कमसे कम दो समय लगते हैं और अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। उन्होंने शब्द लोकान्त तक जाते हैं, इस विषयको स्पष्ट करते हुए कहा है कि वे उछल कर जाते हैं। इसलिए जो शब्द उत्पन्न होते हैं वे ही उछलकर लोकान्त तक जाते हैं या तरंगक्रमसे वे आगे नये नये शब्दोंको उत्पन्न कर लोकान्त तक जाते हैं, यह विचारणीय है। वे शब्द सुने कैसे जाते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि उत्पत्तिस्थानसे जो शब्द सीधमें सुने जाते हैं वे दो प्रकारसे सुने जाते हैं -- परघातरूपसे और अपरघातरूपसे। यदि वे दूसरे पदार्थसे टकराये नहीं हैं तो बाणके समान सीधी गतिसे आकर और कर्णछिद्रमें प्रविष्ट होकर सुने जाते हैं, और यदि वे दूसरेसे टकराकर सुने जाते हैं तो पहले वे सीधमें किसी पदार्थसे टकराते हैं और तब फिर सीधको छोड़कर अन्य दिशामें गति करते हैं, पश्चात् वे फिरसे अन्य पदार्थसे टकराकर सीधमें आकर सुने जाते हैं। यह श्रेणिगत शब्दोंके सम्बन्धमें विचार हुआ। इनसे भिन्न उच्छ्रेणिगत शब्द परघातसे (टकराकर) ही सुने जाते हैं।

आभिनिबोधिक ज्ञानावरणके प्रकरणको समाप्त करते हुए यहाँ अन्तमें आभिनिबोधिक ज्ञान और अवग्रह आदिके पर्याय शब्द दिये हैं और उसे 'अण्णा परूवणा'

कहा है। आभिनिबोधिकज्ञानके पर्यायवाची शब्द लिखते हुए कहा है कि संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता उसके पर्यायवाची नाम हैं। जहाँ तक विदित हुआ है आगमिक परम्परामें प्रथम ज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान ही कहा गया है और संज्ञा आदि उसके पर्यायवाची नाम कहे गये हैं। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें आभिनिबोधिक ज्ञान शब्दके स्थानमें मतिज्ञान शब्द दृष्टिगोचर होता है और उसके बाद तत्त्वार्थसूत्रमें यह क्रम दिखायी देता है। श्वेताम्बर आगमसाहित्यमें भी इन शब्दोंके प्रयोगमें व्यत्यय देखा जाता है। उदाहरणार्थ समवायांग व नंदीसूत्रमें आभिनिबोधिकज्ञान शब्दका प्रयोग हुआ है, किन्तु अन्यत्र व्यत्यय देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि ये आभिनिबोधिक, मति और स्मृति आदि शब्द एक ही अर्थको कहते हैं, व्युत्पत्तिभेदसे इनमें जो अर्थबोध किया जाता है वह ग्राह्य नहीं है। हाँ, परोक्ष ज्ञानके भेदोंमें जो स्मृतिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान और तर्कज्ञान ये भेद आते हैं वे अवश्य ही आभिनिबोधिकज्ञानसे भिन्न हैं और उनका समावेश मुख्यतया श्रुतज्ञानमें होता है।

ज्ञानका दूसरा भेद श्रुतज्ञान है। यह मतिज्ञानपूर्वक मनके आलम्बनसे होता है। तात्पर्य यह है कि पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा पदार्थको जानकर आगे जो उसीके सम्बन्धमें या उसके सम्बन्धसे अन्य पदार्थके सम्बन्धमें विचारकी धारा प्रवृत्त होती है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यहाँ सर्वप्रथम द्वादशांग वाणीकी मुख्यतासे उसके संख्यात भेद किये गये हैं, क्योंकि कुल अक्षर और उनके संयोगी भङ्ग संख्यात ही होते हैं। कुल अक्षर ६४ हैं। यथा -- २५ वर्गाक्षर, य, र, ल और व ये चार अन्तस्थ अक्षर, श, ष, स और ह ये ४ ऊष्माक्षर, अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, औ और औ ये नौ स्वर, दीर्घ और प्लुतके भेदसे २७, तथा अं, अः, = क और = प ये ४ अयोगवाह। इस प्रकार सब मिलाकर ६४ स्वतन्त्र अक्षर होते हैं। इनके एकसंयोगी और द्विसंयोगीसे लेकर चौसठ संयोगी तक सब अक्षर एकट्टी प्रमाण होते हैं। एकट्टीसे तात्पर्य १८४४६७४४०७३७०९५५९६९५ संख्यासे है। चौसठ बार दो का अंक (२ X २X २ इत्यादि) रखकर और परस्पर गुणा कर लब्ध राशियोंमेंसे एक कम करनेपर यह संख्या आती है। द्वादशांग वाणीका संकलन इन सब अक्षरोंमें हुआ था और इसलिए यह बतलाया गया है कि किस अंगमें कितने अक्षर थे। वीरसेन स्वामीने इन संयोगी और असंयोगी अक्षरोंका स्वयं ऊहापोह किया है। वे

बतलाते हैं कि अ आदि प्रत्येक असंयोगी अर्थात् स्वतंत्र अक्षर हैं और अनेक अक्षर मिलकर जो शब्द या वाक्य बनता है वह संयोगी अक्षरका उदाहरण है। इसके लिए उन्होंने 'या, श्रीः, सा गौ' यह दृष्टान्त उपस्थित किया है। इस दृष्टान्तमें 'य्, आ, श्, र्, ई, अः, स्, आ, ग्, औ और अः' ये ग्यारह अक्षर आये हैं। वीरसेन स्वामी इन्हें एक संयुक्ताक्षर मानते हैं। इससे द्वादशांगमें संयुक्त और असंयुक्त अक्षर किस प्रकारके होंगे और उनका उच्चारण किस प्रकारसे होता होगा, यह सब स्थिति स्पष्ट हो जाती है। पुनरुक्त अक्षरोंका जो प्रश्न खड़ा किया जाता है उसपर भी इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। द्वादशांग वाणीमें पदका प्रमाण अलगसे माना गया है। इससे विदित होता है कि वहाँ पदोंकी परिगणना किसी वाक्यके एक श्लोकके एक चरणके आधारसे नहीं की जाती रही है, जिस प्रकार कि वर्तमानमें गद्यात्मक या पद्यात्मक ग्रन्थके परिमाणकी गणना बत्तीस अक्षरोंके आधारसे की जाती है। विचार कर देखा जाय तो वहाँ एक अनुष्टुप्में केवल बत्तीस अक्षर ही नहीं होते; किन्तु मात्रा, विसर्ग और संयुक्त अक्षर बाद करके ये लिये जाते हैं। तथा गद्यात्मक या अनुष्टुप्के सिवा अन्य पद्यात्मक साहित्यमें चाहे वाक्य पूरा हो या न हो जहाँ बत्तीस अक्षर होते हैं वहाँ एक अनुष्टुप् श्लोकका परिमाण मान लिया जाता है। उसी प्रकार द्वादशांग वाणीमें भी मध्यम पदके द्वारा इन अक्षरोंकी परिगणना की गयी होगी। मात्र वहाँपर गणना करते समय मात्रा आदि भी अक्षरके रूपमें परिगणित किये गये होंगे। हाँ, प्रत्येक अंग ग्रन्थमें अपुनरुक्त अक्षरोंका विभाग किस प्रकार किया गया होगा और प्रत्येक ग्रन्थका इतना महा परिमाण कैसे सम्भव है, ये प्रश्न अवश्य ही ध्यान देनेयोग्य हैं। सम्भव है, उत्तर कालमें इनका भी निर्णय हो जाय और एतद्विषयक जिज्ञासा समाप्त हो जाय।

इस प्रकार अक्षरोंकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका विचार कर आगे क्षयोपशमकी दृष्टिसे उसका विचार किया गया है। इसमें सबसे अल्प क्षयोपशम रूप ज्ञानको श्रुतज्ञानका प्रथम भेद माना गया है। इसका नाम पर्यायज्ञान है। यह सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तकके होता है और नित्योद्घाटित है। अर्थात् इस ज्ञानके योग्य क्षयोपशमका संसारी छद्मस्थ जीवके कभी अभाव नहीं होता। इसका परिमाण अक्षरस्वरूप केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है। इसके बाद दूसरा भेद पर्यायसमास है। यह पर्यायज्ञानसे क्रमवृद्धिरूप है। वृद्धिका

निर्देश धवलामें किया ही है। तीसरा भेद अक्षरज्ञान है। विवक्षित अकारादि एक अक्षरज्ञानके लिए जितना क्षयोपशम लगता है तत्प्रमाण यह ज्ञान है। इसी प्रकार क्रमवृद्धिरूप आगेके ज्ञान जानने चाहिए। इतनी विशेषता है कि पर्यायज्ञानके ऊपर छह स्थानपतित वृद्धि होती है और अक्षरज्ञानके ऊपर अक्षरज्ञानके क्रमसे वृद्धि होती है। यद्यपि कुछ आचार्य अक्षरज्ञानके ऊपर भी छह स्थानपतित वृद्धि स्वीकार करते हैं, पर वीरसेन स्वामी इससे सहमत नहीं हैं। पदज्ञानसे यहाँ मध्यम पदका ज्ञान लिया गया है। एक मध्यम पदमें १६३४८३०७८८८ अक्षर होते हैं, क्योंकि द्वादशांगके पदोंकी गणना इतने अक्षरोंका एक पद मानकर की जाती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि होकर पूर्वसमास ज्ञानके अन्तिम विकल्पमें श्रुतज्ञानकी समाप्ति होती है। यह ज्ञान श्रुतकेवलीके होता है। इस प्रकार क्षयोपशमकी दृष्टिसे श्रुतज्ञानके कुल भेद २० होते हैं।

पूर्व चौदह हैं। उनमेंसे प्रथम पूर्वका नाम उत्पादपूर्व है और अन्तिम पूर्वका नाम लोकबिन्दुसार है। इसलिए प्रथम पूर्वको मुख्य मानकर क्षयोपशमकी वृद्धि करनेपर भी यही क्रम बैठता है और अन्तिम पूर्वको प्रथम मानकर क्षयोपशमकी वृद्धि करनेपर भी यही क्रम उपलब्ध होता है, क्योंकि सब पूर्वोंमें अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमासरूप ज्ञान विवक्षित है। किस क्रमसे ज्ञान होता है, इसकी यहाँ मुख्यता नहीं है, यह अभ्यासकी बात है। हो सकता है कि पर्याय और पर्यायसमास ज्ञानके बाद किसीको उत्पादपूर्वके एक अक्षरका ज्ञान सर्वप्रथम हो, किसीको एक अन्य पूर्वके एक अक्षरका ज्ञान सर्वप्रथम हो। ज्ञान किसी भी पूर्वका हो, वह होगा अक्षरादि क्रमसे ही; क्योंकि संघात आदि पूर्वके अधिकार हैं। किस पूर्वमें कितनी वस्तुएँ होती हैं, इसका अलगसे निर्देश किया है। सब वस्तुओंका ज्ञान वस्तुसमासज्ञान कहलाता है। मात्र एक अक्षरका ज्ञान इस ज्ञानमेंसे घटा देना चाहिए, क्योंकि, एक पूर्वसम्बन्धी सब वस्तुओंका पूरा ज्ञान हो जानेपर यह पूर्वज्ञान इस संज्ञाको प्राप्त होता है और सब पूर्वसम्बन्धी सब वस्तुओंका पूरा ज्ञान हो जानेपर उसकी पूर्वसमास श्रुतज्ञान संज्ञा होती है। इसी प्रकार वस्तुके अवान्तर अधिकार प्राभृतोंके सम्बन्धमें जानना चाहिए। तथा यही क्रम अन्य

अधिकारों, अधिकारोंके पदों और पदोंके अक्षरोंके विषयमें भी जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि समस्त श्रुतज्ञानके विकल्प मुख्यतया चौदह पूर्वज्ञानसे सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञानमें पूर्वज्ञानकी ही मुख्यता है।

इस प्रकार समस्त श्रुतज्ञान चौदह पूर्वोंके ज्ञानके साथ सम्बन्धित हो जानेपर अंगबाह्य ज्ञान, ग्यारह अंगोंका ज्ञान और परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग तथा चूलिकाओंका ज्ञान, ये श्रुतज्ञानके किस भेदमें गर्भित हैं, यह प्रश्न उठता है। वीरसेन स्वामीने इस प्रश्नका इस प्रकार समाधान किया है -- वे कहते हैं कि इस सब ज्ञानका अनुयोगद्वार और अनुयोगद्वारसमासमें या प्रतिपत्तिसमास ज्ञानमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। यह पूछनेपर कि ये सब तो पूर्वसम्बन्धी अवान्तर अधिकार हैं, इनमें पूर्वातिरिक्त श्रुतज्ञानका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। इसपर वीरसेन स्वामीका कहना है कि ये पूर्वके अवान्तर अधिकार ही होने चाहिए, ऐसी कोई बात नहीं है; पूर्वातिरिक्त साहित्यके भी ये अधिकार हो सकते हैं।

साधारणतः इस प्रकार समाधान तो हो जाता है, पर फिर भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि यदि यही बात थी तो समस्त श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेद समस्त पूर्वों और उनके अधिकारों व अवान्तर अधिकारोंकी दृष्टिसे ही क्यों किये गये हैं। पूर्वोंके ये अधिकार और अवान्तर अधिकार केवल दिग्म्बर परम्परा ही स्वीकार करती हो ऐसी बात नहीं है। श्वेताम्बर परम्परामें भी ये इसी प्रकार स्वीकार किये गये हैं। हमारा विश्वास है कि विशेष अनुसन्धान करनेपर इससे ऐतिहासिक तथ्यपर प्रकाश पड़ना सम्भव है। क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि श्रुतज्ञानमें पहले पूर्वसम्बन्धी ज्ञान ही विवक्षित था बादमें उसमें आचारांग आदि सम्बन्धी अन्य ज्ञान गर्भित किया गया है। जो कुछ हो, है यह प्रश्न विचारणीय। इस प्रकार श्रुतज्ञानकी प्ररूपणा करके अन्तमें उसके पर्याय नाम दिये गये हैं जो कई दृष्टियोंसे महत्त्व रखते हैं।

तीसरा ज्ञान अवधिज्ञान है। इसे मर्यादाज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिये हुए इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदिकी सहायताके विना होता है। क्षयोपशमकी दृष्टिसे असंख्यात प्रकारका होकर भी इसके मुख्य दो भेद

हैं -- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों, नारकियों तथा तीर्थकरोंके होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यचों व मनुष्योंके होता है। देवों और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होते हुए भी पर्याप्त अवस्थामें ही होता है, इतना विशेष समझना चाहिए। तिर्यचों और मनुष्योंके गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त अवस्थामें ही होता है, यह स्पष्ट है। इन दोनों अवधिज्ञानोंके अनेक भेद हैं -- देशावधि, परमावधि और सर्वावधि तथा हीयमान, वर्द्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र। इन सबका विशेष विचार यहाँ वीरसेन स्वामीने किया है। किस अवधिज्ञानका द्रव्य, क्षेत्र और काल कितना है; इसका भी विचार मूल सूत्रोंमें और धवला टीकामें किया गया है।

ज्ञानका चौथा भेद मनःपर्यय ज्ञान है। यह दूसरेके मनमें अवस्थित विषयको जानता है, इसलिए इसकी मनःपर्ययज्ञान संज्ञा है। इसके दो भेद हैं -- ऋजुमति और विपुलमति। इनमें विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रका विचार करते हुए सूत्रमें कहा है कि यह ज्ञान उत्कृष्ट रूपसे मानुषोत्तर शैलके भीतर जानता है, बाहर नहीं। वीरसेन स्वामीने इसका व्याख्यान करते हुए क्षेत्रके विषयमें तो यह बतलाया है कि मानुषोत्तर शैल पैंतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्रका उपलक्षण है। इसलिए इससे मानुषोत्तर शैलके बाहरका प्रदेश भी लिया जा सकता है। कारण कि उत्कृष्ट विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जहाँ स्थित होगा वहाँसे दोनों ओरके समान क्षेत्रके विषयको ही जानेगा। मान लीजिए कि कोई एक विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानी मानुषोत्तर शैलसे एक लाख योजन हटकर अवस्थित है। ऐसी अवस्थामें वह दोनों ओर साढ़े बाईस लाख तकके विषयको जानेगा, अतः स्वभावतः उसका विषयक्षेत्र मानुषोत्तर शैलके बाहर हो जायेगा। यह नहीं हो सकता कि एक ओर वह एक लाख योजन क्षेत्रका विषय जाने और दूसरी ओर ४४ लाख योजनका। (देखिए सूत्र क्र. ७७ का विशेषार्थ)

ज्ञानका पाँचवाँ भेद केवलज्ञान है। यह सकल है, सम्पूर्ण है और असपत्न है। खण्डरहित होनेसे वह सकल है। पूर्ण रूपेण विकासको प्राप्त होकर अवस्थित है, इसलिए सम्पूर्ण है। कर्मशत्रुओंका अभाव हो जानेके कारण असपत्न है। इसके विषयका निर्देश करते हुए बतलाया है कि यह सब लोक, सब जीव और सब भावोंको एक साथ

जानता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि आत्माका स्वभाव जानना और देखना है। यदि वह समर्याद जानता है तो उसका कारण है। किन्तु जब सब प्रकारके प्रतिबन्धक कारण दूर हो जाते हैं तो फिर ज्ञानमें यह मर्यादा नहीं की जा सकती कि यह इतने कालके भीतरके विषयको ही जान सकता है। इसलिए केवलज्ञानका विषय तीनों कालों और तीनों लोकोंके समस्त पदार्थ माने गये हैं। ये ज्ञानके पाँच भेद हैं, इसलिए ज्ञानावरण कर्मके भी पाँच भेद माने गये हैं।

आत्मसंवेदनाका नाम दर्शन है। इसका जो आवरण करता है उसे दर्शनावरण कहते हैं। इसकी चक्षुदर्शनावरण आदि ९ प्रकृतियाँ हैं।

साधारणतः दर्शनके स्वरूपके विषयमें विवाद है। कुछ ऐसा मानते हैं कि ज्ञानके पूर्व तो सामान्यावलोकन होता है उसे दर्शन कहते हैं। किन्तु वीरसेन स्वामी यहाँ 'सामान्य' पदसे आत्माको ग्रहण करके यह अर्थ करते हैं कि उपयोगकी आभ्यन्तर प्रवृत्तिका नाम दर्शन और बाह्य प्रवृत्तिका नाम ज्ञान है। दर्शनमें कर्ता और कर्ममें भेद नहीं होता, परन्तु ज्ञानमें कर्ता और कर्मका स्पष्टतः भेद परिलक्षित होता है। तात्पर्य यह है कि किसी विषयको जाननेके पहले जो आत्मोन्मुख वृत्ति होती है उसे दर्शन कहते हैं और घट आदि पदार्थोंको जानना ज्ञान है। दर्शनके मुख्य भेद चार हैं -- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए उसके पहले दर्शन नहीं होता, यह स्पष्ट ही है। इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान भी मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए उसके पहले भी दर्शन नहीं होता, यह भी स्पष्ट है। शेष रहे तीन ज्ञान, सो इनमें मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्तसे होता है। उसमें भी चाक्षुष ज्ञानको मुख्य मानकर दर्शनका एक भेद चक्षुदर्शन कहा गया है। शेष इन्द्रियों और मनकी मुख्यतासे दूसरे दर्शनका नाम अचक्षुदर्शन रखा है। अवधिज्ञानके पहले अवधिदर्शन होता है। यद्यपि आगममें अवधिदर्शनका सद्भाव चौथे गुणस्थानमें माना गया है, इसलिए विभंगज्ञानके पहले कौनसा दर्शन होता है यह शंका होती है, जो वीरसेन स्वामीके सामने भी थी। पर वीरसेन स्वामीने विभंगज्ञानके पहले होनेवाले दर्शनको अवधिदर्शन ही माना है। केवलज्ञानके साथ जो दर्शन होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। इस प्रकार दर्शन चार हैं, अतः इनको

आवरण करनेवाले चार दर्शनावरण और निद्रादिक पाँच, कुल नौ दर्शनावरण माने गये हैं।

वेदनीय -- आत्माको जो सुख और दुःख का वेदन करानेमें सहायक है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसके साता वेदनीय और असाता वेदनीय ये दो भेद हैं। साता परिणामका कारण साता वेदनीय और असाता परिणामका कारण असातावेदनीय कर्म है। यहाँपर वीरसेन स्वामीने दुःखके प्रतिकारमें कारणभूत द्रव्यका संयोग कराना और दुःखको उत्पन्न करनेवाले कर्मद्रव्यकी शक्तिका विनाश करना भी साता वेदनीय कर्मका कार्य माना है।

मोहनीय कर्म -- जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है। परको स्व समझना, स्व और परमें भेद न करना, स्वको परका कर्ता मान इष्टानिष्ट करनेके लिए या उसे ग्रहण करनेके लिए उद्यत होना और गृहीत होना स्व मानकर उसका संग्रह करना आदि सब मोहका कार्य है। इसके दो भेद हैं -- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीयके उदयमें 'स्व' की प्रतीति नहीं होती या 'पर' में 'स्व' की बुद्धि होती है और चारित्र मोहनीयके उदयमें परका ग्रहण और उसमें विविध प्रकारके भाव होते हैं।

दर्शनमोहनीय -- यह मूलमें एक है, अर्थात् बन्ध केवल मिथ्यात्वका ही होता है और अनादि कालसे जब तक जीव मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक मिथ्यात्वकी ही सत्ता रहती है, फल भी इसीका भोगना पड़ता है। किन्तु प्रथम वार सम्यक्त्वके होनेपर यह मिथ्यात्व कर्म तीन भागोंमें बँट जाता है -- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। नामानुसार कार्य भी इनके अलग अलग होते हैं। मिथ्यात्वके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि ही रहता है, सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है और सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे सम्यग्दर्शनमें दोष लगाता है। आगे दर्शनमोहनीयकी क्षपणा होने तक मिथ्यात्वकी सत्ता तो नियमसे बनी रहती है, परन्तु शेष दोषकी सत्ता मिटती-बनती रहती है। पल्यके असंख्यातवें भाग कालसे अधिक समय तक यदि मिथ्यात्वमें रहता है तो इनकी सत्ता नहीं रहती और इस बीच या नये

सिरेसे सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो इनकी सत्ताका क्रम या तो चालू हो जाता है या पुनः प्राप्त हो जाती है। हाँ, दर्शनमोहनीयकी क्षपणाके बाद इनकी सत्ता नियमसे नहीं रहती, यह निश्चित है।

चारित्रमोहनीय -- इसके दो भेद हैं -- कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। कषायमोहनीयके १६ और नोकषायमोहनीयके ९ भेद हैं। इनके नाम और कार्य स्पष्ट हैं।

आयुर्कर्म -- जो नारक आदि भवधारणका कारण कर्म है उसे आयुर्कर्म कहते हैं। भव अन्य कर्मके उदयसे होता है। किन्तु उसमें विवक्षित समय तक रखना इस कर्मका कार्य है। भवकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार इस कर्मकी भी तीव्रता और मन्दता जाननी चाहिए। भव मुख्य रूपसे चार हैं -- नारकभव, तिर्यचभव, मनुष्यभव और देवभव, अतः आयुर्कर्मके भी चार ही भेद हैं -- नारकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु और देवायु।

नामकर्म -- जो जीवकी नारक आदि नाना अवस्थाओं और शरीर आदि नाना भेदोंके होनेमें कारण है उसे नामकर्म कहते हैं। इसके पिण्डप्रकृतियोंकी दृष्टिसे मुख्य भेद ब्यालीस हैं। जिस प्रकृतिका जो नाम है तदनुरूप उसका कार्य है। मात्र इस प्रकृतिका लक्षण करते समय जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंके विभागको ध्यानमें रखकर लक्षण करना चाहिए। आनुपूर्वीका उदय विग्रहगतिमें होता है। इसके उदयसे विग्रहगतिमें जीवप्रदेशोंका आनुपूर्वी क्रमसे विशिष्ट आकार प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि विग्रहगतिमें संस्थान नामकर्मका उदय नहीं होता, इसलिए जीवप्रदेशोंको विशिष्ट आकार प्रदान करना इसका मुख्य कार्य प्रतीत होता है। आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृति है, इसलिए अपनी अपनी गतिके विग्रहक्षेत्रके अनुसार तो इसके भेद होते ही हैं, साथ ही जितनी प्रकारकी अवगाहनाओंका त्याग होकर अगली गति प्राप्त होती है वे सब अवगाहनाएँ भी आनुपूर्वीके अवान्तर भेदोंकी कारण हैं। यही कारण है कि प्रत्येक आनुपूर्वीके विकल्पोंका विवेचन सूत्रकारने इन दो दृष्टियोंको ध्यानमें रखकर किया है। पहले तो एक अवगाहना और क्षेत्रके कारण

जितने विकल्प सम्भव हैं वे लिये हैं, फिर इन विकल्पोंको अवगाहनाके विकल्पोंसे गुणित कर दिया है और इस प्रकार प्रत्येक आनुपूर्वीके सब विकल्प उत्पन्न किये गये हैं। इस प्रकार राजुके वर्गको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने नरकगत्यानुपूर्वीके भेद हैं। लोकको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने तिर्यग्गत्यानुपूर्वीके विकल्प हैं। पैंतालीस लाख योजन बाहल्यवाले राजुवर्गको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने मनुष्यगत्यानुपूर्वीके भेद होते हैं। और नौ सौ योजन बाहल्यरूप राजुप्रतरको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतने देवगत्यानुपूर्वीके अवगाहनाविकल्प होते हैं। यहाँ पैंतालीस लाख योजन बाहल्यरूप राजुप्रतरको जगश्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर मनुष्यगत्यानुपूर्वीके कुल भेद उत्पन्न होते हैं, एक ऐसा उपदेश भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार इन दो उपदेशोंमें प्रथम उपदेशके अनुसार नरकगत्यानुपूर्वीके भेद सबसे कम प्राप्त होते हैं और दूसरे उपदेशके अनुसार मनुष्यगत्यानुपूर्वीके भेद सबसे कम प्राप्त होते हैं। ये दोनोंही उपदेश सूत्रसिद्ध हैं, क्योंकि चारों आनुपूर्वियोंके अल्पबहुत्वका विचार इन दोनों उपदेशोंका आलम्बन लेकर किया है।

गोत्रकर्म -- गोत्रकर्मका अर्थ है जीवकी आचारगत परम्परा। यह दो प्रकारकी होती है -- उच्च और नीच। इसलिए गोत्रकर्मके भी दो भेद हो जाते हैं -- उच्चगोत्र और नीचगोत्र। ब्राह्मण परम्परामें रक्तकी आनुवंशिकता गोत्रमें विवक्षित है और जैन परम्परामें आचारगत परम्परा विवक्षित है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण परम्परामें जहाँ उच्चत्व और नीचत्वका सम्बन्ध जन्मसे अर्थात् माता-पिताकी जातिसे लिया गया है वहाँ जैन परम्परामें यह वस्तु सदाचार और असदाचारसे सम्बन्ध रखती है। इसी कारण वीरसेन स्वामीने अनेक प्रकारके शंका-समाधानके बाद उच्चगोत्रका लक्षण कहते समय यह कहा है कि जो दीक्षायोग्य साधु आचारवाले हैं, तथा साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, जिन्हें

देखकर 'आर्य' ऐसी प्रतीति होती है और जो आर्य कहे भी जाते हैं ऐसे पुरुषोंकी सन्तानको उच्चगोत्री कहते हैं और इनसे विपरीत परम्परावाले नीचगोत्री कहलाते हैं ।

अन्तरायकर्म -- दानशक्ति, लाभशक्ति, भोगशक्ति, उपभोगशक्ति और वीर्यशक्ति ये जीवकी स्वभावगत पाँच प्रकारकी शक्तियाँ मानी गयी हैं । इन्हें पाँच लब्धियाँ भी कहते हैं । इन्हीं पाँच लब्धियोंकी प्राप्तिमें जो अन्तराय करता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं । न्यूनाधिक रूपमें संब संसारी जीवोंके अन्तराय कर्मका क्षयोपशम देखा जाता है, इसलिए अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार प्रत्येक जीवके ये पाँच लब्धियाँ उपलब्ध होती हैं और तदनुसार इनका कार्य भी देखा जाता है । लोकमें माला, ताम्बूल आदि भोग और शय्या, अश्व आदि उपभोग माने जाते हैं । धनादिककी प्राप्तिको लाभ गिना जाता है, और आहारादिकके प्रदान करनेको दान कहा जाता है । इन वस्तुओंका ग्रहण होता है कषाय और योगसे ही; पर इनके ग्रहणमें जो भोग, उपभोग और लाभ भाव होता है वह अन्तराय कर्मके क्षयोपशमका फल है । इसी प्रकार आहारादिकका दान तो होता है कषायकी मन्दता या उसके अभावसे ही, पर आहारादिकके देनेमें जो भाव होता है वह भी दानान्तराय कर्मके क्षयोपशमका फल है । आशय यह है कि अन्तराय कर्मके क्षय और क्षयोपशमका कार्य इन भोगादिक भावोंको उत्पन्न करना है । यदि मिथ्यादृष्टि जीव है तो वह पर वस्तुओंके इन्द्रियोंके विषय होनेपर या उनके मिलनेपर उन्हें अपना भोग आदि मानता है, और यदि सम्यग्दृष्टि जीव है तो स्वके आधारसे स्वमें ही अपने भोगादिकको मानता है । भोगादि रूप परिणाम स्वमें हो या परमें, यह तो सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका माहात्म्य है । यहाँ तो केवल आत्मामें ये भोगादि भाव क्यों नहीं होते हैं, और यदि होते हैं तो किस कारणसे होते हैं, इसी बातका विचार किया गया है और इसके उत्तरस्वरूप बतलाया है कि भोगादि भावके न होनेका मुख्य कारण अन्तराय कर्म है । भोगादि भाव पाँच हैं, इसलिए अन्तराय के भी पाँच ही भेद हैं ।

भावप्रकृति -- प्रकृतिनिक्षेपका चौथा भेद भावप्रकृति है। इसके दो भेद हैं --  
आगमभावप्रकृति और नोआगमभावप्रकृति। आगमभावप्रकृतिमें प्रकृतिविषयक स्थित  
-- जित आदि अनेक प्रकारके शास्त्रोंका जानकार और उनके वाचना, पृच्छना आदि  
अनेक प्रकारके उपयोगसे युक्त आत्मा लिया गया है। जब तक कोई जीव प्रकृति  
विषयका प्रतिपादन करनेवाले स्थित - जित आदि शास्त्रोंको जानते हुए भी इन  
शास्त्रोंकी वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना और परिवर्तना आदि करता है तब तक वह  
आगमभावप्रकृति कहलाता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। तथा  
नोआगमभावप्रकृतिमें वर्तमान पर्याययुक्त वह वस्तु ली गयी है। यथा -- सुर, असुर  
और नाग। जो अहिंसा आदिके अनुष्ठानमें रत हैं वे सुर हैं, इनसे भिन्न असुर हैं  
तथा जो फणसे उपलक्षित हैं वे नाग हैं आदि। इसमें पर्यायकी मुख्यता है।  
इस प्रकार प्रकृतिनिक्षेप नामादिकके भेदसे चार प्रकारका है। उनमेंसे यहाँ किसकी  
मुख्यता है, इस प्रश्नको ध्यानमें रखकर सूत्रकारने बतलाया है कि यहाँ  
कर्मप्रकृतिकी मुख्यता है। वीरसेन स्वामीने इसकी टीका करते हुए कहा है कि  
सूत्रकारने 'यहाँ कर्मप्रकृतिकी मुख्यता है' यह वचन उपसंहारको ध्यानमें रखकर  
कहा है। वैसे यहाँ नोआगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमभावप्रकृति इन दोनोंकी मुख्यता  
है। वीरसेन स्वामीके ऐसा कहनेका कारण यह है कि आगे केवल कर्मप्रकृतिका ही  
विवेचन न होकर इन दोनोंका भी विवेचन किया गया है।

यहाँ प्रारम्भमें १६ अनुयोगद्वारोंका नामनिर्देश किया था। किन्तु प्रकृतमें प्रकृतिनिक्षेप और  
प्रकृतिनयविभाषणता इन दो अधिकारोंका ही विचार किया है, शेषका विचार नहीं किया। अतएव  
उनके विषयमें विशेष जानकारीके लिए यह कहा है -- 'सेसं वेयणाए भंगो।' आशय यह है कि  
वेदनाखंडमें जिस प्रकार वर्णन किया है तदनुसार यहाँ शेष अनुयोगद्वारोंका वर्णन कर लेना  
चाहिए।